॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

आत्मधर्म

वर्ष तीसरा
अंक पहला

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

वैशाख
२४७३

स्तुति

श्रीमन्त शेठ सर हुकमचंदजी की सुपुत्री श्री चंद्रप्रभाबहिन ने फाल्गुन शुक्ला ३ के रात्रि चर्चा के समय पर श्री जैन स्वाध्याय मंदिर सोनगढ़ में गाया हुआ स्तवन

यहाँ धरा पर आत्म रवी का उदय सदा जयवंत रहो,
ज्ञानपूंज उस आत्मज्योति को बारबार सब नमन कहो।
धन्य धन्य तुम गुरुवर मेरे आत्म ज्योति को जगा दिया,
कोटि जन्म के अंध ज्ञान का पल भर में ही नाश किया।
भेद ज्ञान जगा अन्तर में निज-पर का है भेद लिया,
मैं ही स्व हूँ ये सब पर है समयसार का मनन किया।
नहिं करता मैं पर वस्तु का जो नहीं मेरी अपनी चीज,
गुरु वचनामृत की धारा से तू ज्ञान वेल अब अपनी सींच।
केवल मैं करता हूँ अपना अपना ज्ञान जगाऊँगा,
नय प्रमाण की चक्की में से निज का तत्त्व छूडाऊँगा।
भिन्न भिन्न जो तत्त्व कहे है निज कर्मों के करता है,
अपने अपने गुण के कारण ये अपने अपने भरता है।
ये क्यों विघ्न रूप हो मुझको मैं आतम तत्त्व निराला हूँ,
नित्य निरंजन ज्ञान स्वरूपी ज्ञान धर्म ऊजियाला हूँ।
पर का राग घटे तत्क्षण जिस क्षण यह विश्वास जगे,
नित्य सुखी होने में मुझको नहिं कभी आयास लगे।
चूर चूर अभिमान गलेगा मैं त्यागी हूँ त्याग किया,
प्रथक आप पर हो जायेंगे गुरु वाणी से ज्ञान लिया।
कुंदकुंद मुनिराज चरण में चंद्रप्रभा का कोटि प्रणाम,
और कानजी सद्गुरु में भी अर्पित करती भक्तिललाम।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग दर्शक मासिक पत्र (२५)

छुटक अंक पांच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

आत्मधर्म

: वर्ष : तीसरा : : अंक पहला : | क्रमांक २५ | : वैशाख : : २४७३ :

राग की व्यापक परिभाषा

(परम पूज्य श्री कानजी महाराज के समयसार पर प्रवचन में से)

क्योंकि राग विकार है, इसलिये वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा का स्वभाव, राग रहित है, यह कहने पर लोग राग की परिभाषा यह मानते हैं कि 'स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी, मान, प्रतिष्ठा इत्यादि का प्रेम राग है,' और इसलिए स्त्री, कुटुम्ब इत्यादि का राग छोड़कर देव, गुरु, धर्म के प्रति राग करके उसे धर्म मान लेते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। जैसे स्त्री, कुटुम्ब, रुपया-पैसा इत्यादि का प्रेम राग हैं; वैसे ही देव, गुरु, धर्म के प्रति जो प्रेम है, वह भी राग है और इसलिए वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, उस राग से भी धर्म नहीं होता।

स्त्री, कुटुम्ब, रुपया-पैसा इत्यादि के प्रति राग का जो अशुभभाव है तथा देव, गुरु, धर्म की भक्ति-पूजा के राग का शुभभाव है, वे दोनों राग ही हैं; और इन भावों को भी छोड़कर आगे चल कर 'मैं आत्मा हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ' इस प्रकार का विचार करने में भी गुण-गुणी के भेद का विकल्प है; इसलिए वह भी राग ही है। ज्ञानगुण, आत्मा से प्रथक नहीं होता, तथापि उसे भिन्न विचार करने पर राग हो जाता है। इस प्रकार स्त्री, पुत्र, रुपया-पैसा इत्यादि का अशुभराग और देव, गुरु, धर्म संबंधी शुभराग तथा अपने आत्मा के संबंध में विकल्प का शुभराग इत्यादि सब राग ही है, इसलिए बंध का कारण है। शुभाशुभराग, वह आत्मा का लक्षण नहीं है। शुभाशुभराग को छोड़कर शेष जो मात्र ज्ञान रह जाता है, वही आत्मा का लक्षण है और वही आत्मा का धर्म है।

आत्मा के स्वरूप में से बाहर लक्ष जाकर जो शुभ अथवा अशुभराग की वृत्ति उठती है, वह आत्मा की स्वतंत्र अनाकुलदशा को रोकती है, इसलिए बंधन है। मात्र अभेद शुद्धात्मस्वभाव के अनुभव के अतिरिक्त कोई भी भाव उत्पन्न हो तो वह सब राग ही है। जो राग की इन व्यापक परिभाषा को नहीं समझते, वे स्त्री, कुटुम्ब, धन इत्यादि की ओर के अशुभराग को छोड़कर देव, गुरु, धर्म के प्रति के शुभराग में धर्म मानकर उसी राग में अटक जाते हैं; किन्तु आत्मा का स्वरूप तो समस्त प्रकार के रागों से रहित है, इसे समझने का वे प्रयत्न ही नहीं करते और इसीलिए उन्हें सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अनेक उपवासों का शुभराग करने से जो पुण्य बंध होता है, उसकी अपेक्षा एक समय के मिथ्यात्व का पाप अधिक है। चाहे जितने उपवास का पुण्य एकत्रित किया जाय, तथापि वह मिथ्यात्व के महा पाप को दूर करने में समर्थ नहीं होता। उपवास का शुभभाव राग है और मिथ्यात्व को दूर करके सम्यग्दर्शन को प्रगट करना, सो धर्म है। हजारों उपवासों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का फल भिन्न प्रकार का ही है क्योंकि उपवास के शुभराग का फल बंधन है और सम्यग्दर्शन का फल मुक्ति है। बंध मार्ग और मुक्ति मार्ग को भिन्न-भिन्न पहचानना चाहिए।

देव, गुरु, शास्त्र पर है। पर के लक्ष से चाहे जितना राग कम करके चाहे जितना शुभराग करे तो भी उससे बंध ही होता है, आत्मधर्म का उपाय नहीं है, किन्तु राग से विपरीत लक्षण वाला ज्ञान ही आत्मधर्म का उपाय है; इसलिए यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि राग, आत्मा नहीं है, किन्तु ज्ञान आत्मा है। ★

केवलज्ञान और मुक्ति

इस काल में केवलज्ञान नहीं होता और इस काल में मोक्ष नहीं होता, ऐसी आड़ लेकर के कुछ पुरुषार्थहीन जीव, धर्म का स्वरूप समझने के प्रति अरुचि करते हैं; परंतु इस काल में भी जीव धर्म का स्वरूप समझ कर केवलज्ञान और मोक्षदशा की ओर प्रयाण कर सकते हैं अर्थात् केवलज्ञान और मोक्ष का उपाय इस काल में भी सच्ची समझ के द्वारा हो सकता है, इस संबंध में महान तत्त्वज्ञानी श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

२१- शास्त्र में इस काल में मोक्ष का आत्यंतिक निषेध नहीं है। जैसे रेलगाड़ी के रास्ते से जल्दी जा सकते हैं और पैदल के रास्ते से देर से जा सकते हैं, उसी प्रकार इस काल में मोक्ष का मार्ग पैदल के मार्ग के समान है, ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि उससे अपने निश्चित स्थान पर पहुँच नहीं सकते। यदि जल्दी चले तो जल्दी जा सकता है, कहीं रास्ता बंद नहीं है, इस तरह मोक्षमार्ग सिद्ध है, उसका अभाव नहीं है। अज्ञानी अकल्याण के मार्ग में कल्याण मानकर स्वच्छंद कल्पना करके जीवों का पार होना बंद करा देता है। अज्ञानी के प्रेमी भोलेभाले जीव अज्ञानी के कहे अनुसार चलते हैं और वैसे कर्म का बंध कर दोनों कुगति को प्राप्त होते हैं। ऐसी दुर्दशा जैनों में विशेषरूप से हुई है।

२२–नय आत्मा को समझने लिये कहा है; किन्तु जीव तो नयवाद में फँस जाते हैं। आत्मा को समझाते हुये नय के चक्कर में फँस जाता है, इसलिए वह प्रयोग विपरीत सिद्ध होता है। सम्यग्दृष्टि जीव के 'केवलज्ञान' कहा जाता है। वर्तमान में भान हुआ एकदेश केवलज्ञान हुआ कहलाता है और वैसे तो आत्मा का भान हुआ कि केवलज्ञान हुआ। इसे यों कह सकते हैं कि सम्यग्दृष्टि को जब आत्मा की प्रतीति होती है, तब उसे केवलज्ञान की प्रतीति प्रगट होती है और प्रतीति प्रगट हुई कि केवलज्ञान अवश्य होगा; इसलिए इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि के केवलज्ञान कहा है। सम्यक्त्व हुआ अर्थात् जमीन खोदकर बीज बोया, उसका झाड़ हुआ, फल हुए, थोड़े फल खाये और यदि खाते–खाते आयु पूर्ण हो गई तो फिर दूसरे भव में शेष फल खाने में आते हैं, इसलिए ऐसा उल्टा नहीं मान लेना चाहिए कि इस काल में केवलज्ञान नहीं है और सम्यक्त्व के प्राप्त होने से अनंत भव दूर होकर एक भव आड़े रहता है, इसलिए सम्यक्त्व उत्कृष्ट है। आत्मा में केवलज्ञान है किन्तु आवरण दूर होने पर केवलज्ञान होता है। इस काल में सम्पूर्ण आवरण दूर नहीं होता, एक भव बाकी रहता है अर्थात् जितना केवलज्ञानावरणी दूर होता है; उतना केवलज्ञान प्रगट होता है। सम्यक्त्व के आने पर–अन्तरंग दशा बदल जाती है; केवलज्ञान का बीज फूट जाता है। बिना सद्गुरु के मार्ग नहीं, इस प्रकार महा पुरुषों ने कहा है, यह उपदेश बिना कारण नहीं किया।

२३– सम्यक्त्वी अर्थात् मिथ्यात्व मुक्त (मिथ्यात्व से रहित), केवलज्ञानी अर्थात् चारित्रावरण से सम्पूर्णतया मुक्त और सिद्ध अर्थात् शरीरादि से सम्पूर्ण मुक्त समझना चाहिए।

(श्रीमद् राजचंद्र उपदेश छाया)

उपरोक्त कथन में स्पष्ट कहा है कि इस काल में केवलज्ञान का उपाय हो सकता है और उसके लिये सम्यक्त्व के ऊपर भार दिया है और सम्यक्त्व को ही केवलज्ञान का बीज कहा है, इसलिए सच्ची समझ का प्रयत्न करना चाहिए, 'इस काल में केवलज्ञान नहीं है' ऐसा मानकर समझने के प्रयत्न में रुकना नहीं चाहिए।

सम्यग्दर्शन होने पर श्रद्धा की अपेक्षा से द्रव्य का मोक्ष होता है, सम्यक् स्थिरता होने पर पर्याय का मोक्ष होता है। इस काल में द्रव्य का मोक्ष हो सकता है, हे भाई! पहले तू दृष्टि में द्रव्य का मोक्ष तो समझ, जिसने द्रव्य के मोक्ष को दृष्टि में लिया है, उसके पर्याय का मोक्ष तो उस द्रव्य के बल से हो ही जाता है; इसलिए 'मोक्ष नहीं है' यह बात ही दृष्टि में से निकाल दे और द्रव्य की दृष्टि कर। जिसे सम्यग्दर्शन हो गया, उसे केवलज्ञान और मोक्ष होता ही है–इसलिए सबसे पहले आत्मा की सच्ची समझ के द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए। ★

धर्म और पुण्य

[पूज्य श्री कानजी महाराज का प्रवचन]

जगत् में अज्ञानी जीव पुण्यवन्तों का आदर करते हैं और इन्द्र चक्रवर्ती इत्यादि पुण्यवान् आत्मा, धर्मी जीवों का (वे पुण्यहीन हों तो भी) आदर करते हैं, तब विचार करो कि इस में किस की महिमा हुई, धर्म की या पुण्य की ? धर्म की ही महिमा हुई है। इससे सिद्ध होता है कि जिस भाव से इन्द्र पद अथवा चक्रवर्ती पद मिला है, उस शुभभाव का भी धर्म में आदर नहीं है, वह हेय है। पुण्य की अपेक्षा धर्म वस्तु भिन्न है, इसीलिए पुण्यवान प्राणी, धर्मी जीव का आदर करते हैं। पुण्य से धर्मी का भाव नहीं होता, अत: यह बताया जा रहा है कि धर्मी का माप कैसे होता है।

कोई धर्मात्मा मुनि पहले के किसी पापोदय के कारण घानी में पेले जा रहे हों और उधर किसी इन्द्र की हजारों देव सेवा कर रहे हों, तथापि इन्द्र आकर धर्मात्मा मुनि को नमस्कार करता है और कहता है कि—'अहो ! धन्य धर्मात्मा ! धन्य मुनि ! आपके पवित्र चरण कमल में मेरा मस्तक नत है' यह नमस्कार धर्मदृष्टि से है। यदि वन्दना करनेवाले की दृष्टि पुण्य-पाप पर होती तो वह धर्मात्मा मुनि की वन्दना नहीं करता। धर्मात्मा मुनि के पापोदय विद्यमान है और इन्द्र के पुण्य का उदय है किन्तु इन्द्र की दृष्टि पुण्य-पाप पर नहीं, धर्म पर है। मुनि को अन्तरंग में विशेष धर्म प्रकट हुआ है, इसलिए धर्म को नमस्कार करता है।

बाह्य सामग्री का त्याग कर देना ही धर्मी का स्वरूप नहीं है। स्वयं पुण्यवान् हो और कोई धर्मात्मा अधिक पुण्यवान् न हो, तथापि स्वयं धर्मात्मा को वन्दना नमस्कार करता है क्योंकि उस धर्मात्मा के पास पुण्य की अपेक्षा कोई भिन्न प्रकार की वस्तु है, जो पुण्य से अधिक ऊँची है, इसीलिए वह धर्मात्मा वन्दनीय है। इस प्रकार धर्म के समक्ष पुण्य हेय है और धर्मी के पुण्य का आदर नहीं है। यदि श्रद्धा में पुण्य का आदर हो तो वह धर्मी नहीं है। श्रद्धा में पुण्य का आदर कब दूर होता है। 'मैं ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा हूँ, पुण्य-पाप दोनों विकार है, वह मेरा स्वरूप नहीं है' ऐसी प्रतीति हो तो श्रद्धा में से पुण्य का आदर दूर हो जाता है अर्थात् जिसे आत्मा की पहचान है, वह धर्मी है, वही वन्दनीक है। कोई जीव बाह्य में त्यागी हो किन्तु उस की श्रद्धा में पुण्यभाव का आदर हो तो वह धर्मात्मा नहीं है और इसीलिए वह वन्दनीय भी नहीं है।

तू जिसे वन्दना करता है, उसमें और तुझ में क्या अन्तर है ? वह क्यों वन्दनीय है, इसका निश्चय करना चाहिए। कोई बाह्य त्यागी है, इसलिए वन्दनीय है, यह बात नहीं है। जिस भाव में

बाह्य सामग्री मिलती है, यदि उस भाव का श्रद्धा में आदर हो तो न तो वह त्यागी है और न तो धर्मात्मा, किन्तु वह तुझ जैसा ही है। धर्मात्मा तो वह है जिसे सामग्री अथवा सामग्री का कारण जो पुण्य-पाप है, उसमें आदर नहीं हो। भव और भव का कारण पुण्य-पाप का विकार भाव है, धर्मात्मा को उसका आदर नहीं होता; इस प्रकार परीक्षा करके धर्मात्मा को पहचाने बिना मात्र बाह्य सामग्री का त्याग देखकर जो आदर करता है, वह धर्म का नहीं किन्तु बाह्य त्याग का आदर करता है, उसे धर्म के स्वरूप की पहिचान नहीं है। स्वयं बाह्य अनुकूलताओं का त्याग नहीं कर सकता और किसी के बाह्य सामग्री का त्याग देखता है, तब वह बाह्य त्याग का आदर करने लगता है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि भीतरी क्या अन्तर है ? बाह्य में त्याग होने पर भी जो शुभभाव उसे लाभ मानता है, उसके भीतर जिस भाव से बाह्य सामग्री मिलती है, उस पुण्यभाव का आदर करता है और जिसे पुण्य का आदर है, उसे पुण्य के फल के प्रति भी आदर होता है; इसलिए वह जीव धर्मात्मा नहीं है।

धर्म अपूर्व वस्तु है, पुण्य-पाप से परे है। पुण्य-पाप दोनों समान हैं। धर्मी जीव श्रद्धा में उन दोनों को समान मानता है अर्थात् दोनों को हेय समझता है। वह यह नहीं मानता कि पाप खराब है और पुण्य अच्छा। धर्मात्मा को पापी जीव के प्रति तिरस्कार नहीं होता और न पुण्यात्मा को देखकर वह प्रसन्न होता है क्योंकि वह दोनों विकार के फल हैं। धर्मात्मा ने पुण्य और पाप को विकारी के रूप में समझा है, इसलिए विकारभाव को करनेवाले और उसके फल को भोगनेवाले पर समभाव होता है। यदि अस्थिरता के कारण अपने पुण्य-पाप के भाव हो जाते हैं तो उनका भी धर्मी के आदर नहीं होता। यद्यपि वे पापभाव से बचने के लिये शुभभाव करते हैं किन्तु उन्हें उस भाव का भीतर से आदर नहीं होता। धर्मी का यही लक्षण है कि वे पुण्य-पाप रहित आत्मा के शुद्ध ज्ञायकस्वभाव को जानते हैं, इसलिए उन्हें पुण्य अथवा पापभाव के प्रति आदर नहीं होता।

धर्मात्मा की वन्दना करने में उपरोक्त स्वरूप को समझने का उत्तरदायित्व वन्दना करनेवाले पर है। यदि ऊपर के कथनानुसार धर्म के स्वरूप को समझे बिना वन्दना की जाय तो वह वन्दना धर्मात्मा के लिये नहीं होती, क्योंकि धर्मात्मा का स्वरूप समझे बिना उसकी वन्दना कैसे हो सकती है ?

उपरोक्त कथन का सार

१— पुण्य की अपेक्षा धर्म भिन्न वस्तु है।

२— बाह्य त्याग धर्मात्मा का लक्षण नहीं है।

३— जिसकी वन्दना की जाय, उसके स्वरूप को जानना चाहिए।

४— पुण्य-पाप दोनों धर्मदृष्टि से समान हैं क्योंकि दोनों विकार हैं।

५— वन्दनीय और वन्दना करनेवाले की श्रद्धा में पुण्य का आदर नहीं होना चाहिए, तभी यथार्थ वन्दना कहलायेगी।

६— धर्मात्मा का अन्तरंग स्वरूप जाने बिना सच्चा नमस्कार नहीं हो सकता।

.....महान् सिद्धान्त.....

एक परिनाम के न करता दरव दोई, दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है;
एक करतूति दोई दर्व कबहू न करैं, दोई करतूति एक दर्व न करतु हैं।

पुण्य-पाप विकार है और विकार छोड़ना योग्य है

पुण्य-पाप आत्मा के चारित्रगुण की विकारी अवस्था है। शरीर की क्रिया से पुण्य-पाप नहीं है, फिर भी आत्मा के विकारी भाव से पुण्य-पाप है। शुभभाव से पुण्य और अशुभभाव से पाप होता है; इस प्रकार न मानकर जो शरीरादि परवस्तु की क्रिया से पुण्य-पाप मानता है, उसको तो नव तत्त्व के स्वरूप की ही खबर नहीं है क्योंकि उसने जीव की विकारी पर्याय को जड़ की पर्याय माना है। पुण्य-पाप, शरीरादि परद्रव्य की किसी क्रिया से नहीं किन्तु जीव के अपने विकारी भाव से होता है; पहले इतना जानने के बाद ऐसा निश्चय करना चाहिये कि वह विकारी भाव, आस्रव है, बंध का कारण है; उससे संवर-निर्जरारूप धर्म नहीं होता। धर्म तो पुण्य-पाप के विकार से परे आत्मा का अविकारी स्वभाव है। वह आत्मा के अविकारी स्वभाव के भान होने के बाद पूर्ण वीतराग-अविकार जब तक नहीं होता, तब तक अल्प चारित्र के दोष से शुभभावरूप विकार आता जरूर है, किन्तु धर्म के स्वरूप को जाननेवाले ज्ञानी को उसी के बल से उस विकार का अभाव होता है। यदि दृष्टि में उस के बल से वह अभाव न हो अर्थात् उस विकारभाव को छोड़ने योग्य न

माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दर्शन के द्वारा अविकारी स्वभाव की पहचान होने के बाद जो व्रत, तपादिक के शुभविकल्प होते हैं, वे भी धर्म नहीं हैं, छोड़ने योग्य हैं। पूर्ण वीतराग हो जाने के बाद तो कुछ छोड़ने के लिये रहता ही नहीं है किंतु वीतराग होने से पहले शुरु से ही श्रद्धा में सर्व प्रकार के विकार भावों को बिल्कुल छोड़े बिना कभी वीतरागता का अंश भी नहीं आ सकता।

''इस काल में संपूर्ण वीतरागता और साक्षात् मोक्ष नहीं है, इसलिये शुभविकार छोड़ने योग्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि जहाँ वीतरागता नहीं होती, वहाँ राग तो होता ही है, इसलिये अभी विकार को-पुण्य को छोड़ने योग्य नहीं कहा जा सकता।'' इस प्रकार जो कहता है, वह यथार्थवादी नहीं है। संपूर्ण वीतरागता नहीं है, इसलिये विकार करना चाहिये, इसका अर्थ तो यह हुआ कि हंस के अभाव में कौवे को हंस मान लेना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता; भले ही इस काल में संपूर्ण वीतरागता-मोक्ष नहीं है, किन्तु मोक्ष का स्वरूप क्या है, उसका उपाय क्या है, इन सब की यथार्थ श्रद्धा तो इस काल में भी जरूर हो सकती है।

मोक्ष प्राप्त करने के लिये शुभ विकार को भी छोड़ने योग्य ही मानना चाहिये। स्थिरतारूप संपूर्ण वीतरागता न हो तो श्रद्धा में तो वीतरागभाव ही धर्म है—ऐसा मानना चाहिये किंतु 'संपूर्ण वीतरागता नहीं होती, इसलिये श्रद्धा में विकार को करने योग्य मानना' इसका अर्थ यह हुआ कि गरीबों को शर्बत न मिले तो विष पीना चाहिये। किन्तु ऐसा उपदेश तो जैनधर्म में कैसे होता है? ऐसा विपरीत उपदेश तो जैनधर्म में हो ही नहीं सकता। हाँ, इतना जरूर है कि यदि गरीब को जितनी चाहिये उतनी न शक्कर न मिले तो जितनी मिल सकती हो उतनी ही लेले और कुछ फीका शर्बत पी ले किन्तु कहीं शक्कर के बदले विष तो गरीब भी नहीं लेता; इसी प्रकार इस काल में पुरुषार्थ की कमजोरी से स्थिरतारूप पूर्ण धर्म नहीं हो तो भी श्रद्धारूप धर्म तो जरूर हो सकता है; पूर्ण धर्म की प्रगटता के अभाव में भी अधर्म का सेवन करने को कैसे कहा जा सकता है? ऐसा तो कदापि नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना जरूर है कि पूर्ण धर्म न हो तो पूर्ण की भावना रखकर जितना हो सके उतना भी धर्म करे और अधर्म को छोड़ने योग्य जाने.....

अशुभभाव तो हेय ही है, और जहाँ-जहाँ शुभभाव को हेयपना बताया है, वहाँ धर्म दृष्टि से कथन है। धर्म अर्थात् आत्मा का अविकारी स्वभाव; उसकी दृष्टि से पुण्य (वह विकारी होने से) हेय है, किन्तु पाप की अपेक्षा से पुण्य हेय नहीं है क्योंकि पाप में तीव्र विकार है, पुण्य में मंद विकार है। पाप से बचने के लिये सम्यक्त्वी जीवों को भी शुभभाव, जब वे शुद्धस्वरूप में स्थिर

नहीं रह सकता, तब होता है परंतु उसमें वे धर्म नहीं मानते किन्तु उनके उस शुभविकार को छोड़कर अविकारी स्वरूप की निरंतर भावना होती है; इसी से निश्चय होता है कि शुभभाव करते करते धर्म होता ही नहीं। शुभभाव ज्ञानी-अज्ञानी दोनों को होता है किन्तु ज्ञानी उसमें धर्म नहीं मानता, अज्ञानी उसमें धर्म मानता है-यही महान् अंतर है, यही दृष्टि का फरक है।

'शुभभाव हेय है' इस कथन का ऐसा अर्थ नहीं है कि शुभभाव से छूटकर अशुभभाव में लगना चाहिये किन्तु अशुभ-शुभ दोनों से छूटकर स्वभाव में एकाग्रता करने के लिये यह कथन है। मात्र पाप से बचने के लिये पुण्यभाव है, तथापि यदि कोई उसके बदले पुण्य भाव से धर्म मानकर उसको आदरणीय माने तो उसने पुण्य के और धर्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना, जहाँ पुण्य और धर्म के वास्तविक स्वरूप का भी भान न हो, वहाँ धर्म तो हो ही कैसे सकता है ? ★

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम;
रस स्वादत सुख उपजै, अनुभव याको नाम।
करै करम सोई करतारा, जो जानै सो जाननहारा
शुभाशुभ परिणाम का स्वामित्व वह मिथ्यादर्शन है।

☆ ☆ ☆

मांगलिक महोत्सव

'एक समय में सिद्ध भगवान पूर्ण हैं' ऐसा जो ज्ञान निश्चय करता है वह ज्ञान 'मैं भी एक समय में सिद्ध की तरह पूर्ण स्वरूपी हूँ' इस प्रकार जानता है।

(भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण दिवस पर पूज्य श्री कानजी महाराज का प्रवचन)

श्री सीमंधर स्वामी को नमस्कार हो।
श्री कुंदकुंदाचार्य को नमस्कार हो।
श्री समयसार को नमस्कार हो।

१— "श्री महावीर स्वामी आज मोक्ष पधारे सिद्ध हुये और श्री गौतमस्वामी को केवलज्ञान प्रगट हुआ।" इस प्रकार ज्ञान में प्रतीति कर जीव निर्वाण कल्याणक महोत्सव मनाते हैं। महावीर स्वामी तो २४७२ वर्ष पहले मोक्षदशा को प्राप्त हुये थे, तथापि 'आज ही भगवान ने निर्वाण प्राप्त

किया' इस प्रकार क्यों कहते हैं ? वास्तव में तो कोई जीव केवलज्ञानी को अथवा सिद्ध भगवान को नहीं जानते किन्तु अपनी पूर्णता को जानते हैं, अपनी पर्याय की सामर्थ्य भी वैसी ही है, उसे वर्तमान करके जानता है। केवलज्ञान और सिद्धदशा की सामर्थ्य का निश्चय करनेवाला ज्ञान स्वयं वर्तमानरूप है और वह वर्तमान से ही जानता है; इसलिए प्रस्तुत ज्ञेय को भी वर्तमानरूप करके ही जानता है; 'सिद्ध भगवान भूतकाल में हो गये' ऐसा नहीं है किन्तु 'वर्तमान ही हैं' इस प्रकार बीच के काल को हटाकर ज्ञेयरूप सिद्ध भगवान को भी वर्तमान ही माना है।

२— द्रव्य और गुण तो प्रत्येक पर्याय के साथ ही अखंडरूप में विद्यमान हैं, मेरे द्रव्य-गुण और उसकी जाननेरूप पर्याय ये तीनों वर्तमान में ही रहे और प्रस्तुत ज्ञेय में द्रव्य, गुण, पर्याय के खंड हो जाय, ऐसा कदापि नहीं बनता अर्थात् ज्ञेयरूप सिद्ध भगवान की पर्याय वर्तमान में और द्रव्य-गुण भूतकाल में हों, ऐसा नहीं होता। परंतु जैसे यहाँ ज्ञान वर्तमानरूप ही है, उसी प्रकार प्रस्तुत ज्ञेय भी वर्तमानरूप से ही है। ज्ञान संपूर्ण ज्ञेय द्रव्य को वर्तमान करके जानता है अर्थात् पर्याय के भूत-भविष्य के भेद को छोड़कर, समस्त पर्यायों से अभेदरूप पूर्ण द्रव्य ही वर्तमान है, इस प्रकार ज्ञान जानता है। 'भूतकाल में महावीर भगवान सिद्ध हुये' इस प्रकार ज्ञान नहीं जानता किंतु 'वर्तमान में ही सिद्ध हुये' ऐसा जानता है। उस में ज्ञान और ज्ञेय दोनों द्रव्यों की अखंडता को लक्ष्य में लिया हैं। भूत या भविष्य की अवस्था से ज्ञान नहीं जानता किन्तु वर्तमान अवस्था से ही जानने का कार्य करता है और द्रव्य, गुण तो वर्तमानरूप ही हैं, इस तरह द्रव्य, गुण, पर्याय से अखंड वस्तु वर्तमान रूप है और यदि प्रस्तुत ज्ञेय वस्तु पूर्ण वर्तमान न हो तो उपादान-निमित्त का (ज्ञान-ज्ञेय का) मेल ही नहीं बैठता।

३— भूत-भविष्य काल की पर्यायें हैं अवश्य, उस से इनकार नहीं है, किन्तु यहाँ तो दूसरा न्याय कहना है। आज किस शैली से कहा जाता है, यह ध्यान रखना। ख्याल करनेवाला वर्तमान की अपेक्षा से ख्याल करता है या भूत-भविष्य की पर्याय की अपेक्षा से ? प्रस्तुत ज्ञेय का ख्याल तो वर्तमान में ही करता है न ? जिस प्रकार यहाँ ज्ञान वर्तमान ही है, उसी प्रकार प्रस्तुत ज्ञेय में भी भूत-भविष्य को भूल जा। (भूत-भविष्य की पर्याय के भेद को छोड़कर सर्व पर्यायों से अखंड रूप वस्तु को वर्तमान ज्ञेयरूप करके जान)। यहाँ उपादान में एक समय में अखंड ज्ञान की शक्ति है और प्रस्तुत निमित्तरूप लोकालोक भी एक समय में पूर्ण है। यहाँ ज्ञान वर्तमानरूप से पूर्ण हो और प्रस्तुत ज्ञेय वर्तमानरूप से पूरा न हो-ऐसा बनता ही नहीं है। 'एक समय, सो सब समय' इसका क्या अर्थ

है ? एक समय में वस्तु पूर्ण है, दूसरे समय की पूर्णता दूसरे समय में है और तीसरे समय की तीसरे समय में हैं, इस प्रकार प्रत्येक समय में वस्तु पूर्ण है। किन्तु बहुत से समय इकट्ठे होने के बाद वस्तु की पूर्णता होती है–ऐसा नहीं है।

४— वर्तमान ज्ञान वर्तमान ज्ञेय को अखंडरूप से जानता है अर्थात् वास्तव में तो स्वयं एक समय में संपूर्ण वर्तमान है, उसकी स्वीकारता है। क्या ज्ञेय वस्तु का कोई भाग भूत–भविष्य में रहता है या वर्तमान ही पूर्ण है ? वर्तमान ही पूरा है, इसलिये ज्ञान में संपूर्ण ज्ञेय आ जाता है। काल को दीर्घ करके भूत, भविष्य पर्याय के भेद को लक्ष में लेना, सो व्यवहार है। परमार्थ से गुण–पर्यायों के साथ एक ही समय में पूर्ण द्रव्य वर्तमान है। समय–समय पर होनेवाली जो पर्याय है, वह अखंड गुण–द्रव्य के प्रत्येक समय में वर्तमान रूप में स्थिर रखती है। जैसे किसी वस्तु की पर्याय को देखकर ही ज्ञान में अखंड को प्रतीति में लेकर कहता है कि पूर्ण वस्तु दिखाई देती है। इस प्रकार जिस जिस का ज्ञान करता है, उसे वर्तमान पूर्ण बताता है, भूत–भविष्य बाकी नहीं रह जाता; ऐसा ज्ञान स्वभाव है, इसलिये महावीर भगवान ने पहले सिद्धदशा प्राप्त की, ऐसा भूत की अपेक्षा से ख्याल न करके, भगवान ने आज ही सिद्धदशा प्राप्त की, ऐसा वर्तमान की अपेक्षा से ख्याल करता है।

अहो ! सिद्धदशा में आत्मा परिपूर्ण ज्ञान–आनंददशारूप से परिणम गया; सिद्धदशा में भी आत्मा के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यत्व होता है, वहाँ परिपूर्ण ज्ञान–दर्शन सुख–वीर्यादि अवस्थारूप से प्रत्येक समय में उत्पन्न होता है, पुरानी अवस्था का व्यय होता है और सादि–अनन्त सिद्धदशा में आत्मा ध्रुवरूप बना रहता है। सिद्ध भगवान, रागादि विकार रहित और शरीरादि संयोग रहित पूर्ण ज्ञान–सुख इत्यादि स्वभावरूप से परिणमन करते हैं; इस प्रकार जिस जीव ने अपने ज्ञान में जाना, उस ज्ञान में अनंत सामर्थ्य है; 'एक समय में सिद्ध भगवान पूर्ण हैं'–ऐसा जो ज्ञान निश्चय करता है, वह ज्ञान 'मैं भी एक समय में सिद्ध की तरह पूर्ण स्वरूपी हूँ' इस प्रकार जानता है।

५— पुण्य–पाप से रहित और ज्ञानादि अनंत गुणों का पिंड रूप अकेला आत्मस्वभाव की एक शुद्ध पर्याय के परिपूर्ण सामर्थ्य को जिसने प्रतीति में लिया है, उसने वर्तमान पर्याय में भगवान की ओर के विकल्प का राग होने पर भी, अपने ज्ञान को उससे अधिक रखकर (ज्ञान को राग से भिन्न करके) अपनी पर्याय के अनंत सामर्थ्य का ज्ञान किया। आज प्रातःकाल भगवान का आत्मा परम पवित्र मुक्तदशा को प्राप्त हुआ – ऐसा भगवान की ओर के लक्ष का जो विकल्प है, वह तो राग है परंतु सिद्ध स्वभाव की एक समय की पर्याय का सामर्थ्य अपनी असंख्य समय के उपयोगवाली

पर्याय में स्वीकार करनेवाले जीव का ज्ञान और उस ज्ञान के सामर्थ्य की एक समय में प्रतीत उस विकल्प से अधिक हुई है; ज्ञान और प्रतीतरूप उस पर्याय से स्वभाव की ओर एकता करता है और विकार से भिन्नता करता है।

६— उस भिन्नतारूप हुये ज्ञान ने शरीरादि समस्त परद्रव्यों का तो स्व में अभाव ही बनाया है अर्थात् यह किसी परवस्तु को तो अपना स्वरूप मानता ही नहीं है और स्वभाव के बल से विकार को तुच्छ बनाया है अर्थात् अस्थिरता में विकल्प होने पर 'यह मुझे लाभदायक है ही नहीं' ऐसी प्रतीति से उस ओर का बल तोड़ डाला है [दूर कर दिया है]; इस तरह जिसका ज्ञान पर से पृथक् और विकार से अधिक (पृथक् हुआ है, ऐसा जीव अल्प काल में विकार के संबंध को सर्वथा नाश करके सिद्ध होता ही है, इसमें अंतर नहीं पड़ सकता। अपनी पर्याय के ज्ञान की शक्ति के बल से विकल्प से भिन्न होकर जो ज्ञान आगे बढ़ा है, वह विकल्प को तोड़कर सिद्ध हो ही जाता है। विकल्प और राग का दृष्टि में तो पहले से अभाव ही है, किन्तु अस्थिरता में ही इस विकार को तुच्छ किया है। विकार का वस्तु में अभाव और अवस्था में तुच्छता पहले से जिसने जान लिया है, वही जीव स्थिरता के द्वारा अवस्था में भी विकार का अभाव करके सिद्ध हो जाता है। जिसके ज्ञान में सिद्ध भगवान के अनंत ज्ञान को सामर्थ्य की स्वीकृति आई, उसके आत्मस्वभाव की स्वीकृति हो जाती है और जिस के आत्मस्वभाव की स्वीकृति हो जाती है, उसके अपनी सिद्धदशा की स्वीकृति हो जाती है। कहा भी है कि जो जीव है, सो जिनेन्द्र है और जो जिनेन्द्र है, सो जीव है।

आत्मा का स्वभाव जाननेरूप है। जो जैसा है, उसे आत्मा वैसा जानता है। ज्ञाता सब को जानता है। चैतन्य में नहीं जानने का कोई चिन्ह ही नहीं है, मात्र जानने में विकल्प कहाँ रहा? जानने में विकारी करके अटक जाना चैतन्य का स्वरूप नहीं है, इस प्रकार विकल्प को तुच्छ करके अपने ज्ञान सामर्थ्य को जिसने अधिक किया है, उसने सिद्ध दशा के पूर्ण सामर्थ्य का ख्याल किया है।

७— सिद्ध भगवान वास्तव में पर को नहीं जानते किन्तु अपने ज्ञान की अवस्था में जानने की पूर्ण शक्ति प्रगट हो गई है, इसलिये वे अपने ज्ञान की सामर्थ्य को ही जानते हैं। इसी प्रकार जिसने सिद्ध भगवान की पवित्रता के सामर्थ्य का ख्याल किया है, वह जीव भी वास्तव में तो सिद्ध भगवान के अनंत सामर्थ्य को निश्चित करनेवाली अपनी निर्मल पर्याय के सामर्थ्य को ही जानता है। अपनी निर्मलदशा को वर्तमानरूप करके जानते हुये सामने निमित्तरूप ज्ञेय के रूप में अनंत

सिद्ध भगवान और तीर्थंकर भगवान तथा जो संत मुनिजन हैं, उनको वर्तमानरूप उपस्थित करके जानता है। प्रस्तुत ज्ञेय के वर्तमान हुये बिना वर्तमान ज्ञानपर्याय उसे कैसे जाने ?

८— देखो तो इस निर्वाण कल्याणक की महिमा को ! भगवान महावीर इत्यादि भूतकाल में सिद्ध हुये हैं, यह मैं नहीं जानता किन्तु यह जानता हूँ कि वर्तमान में ही सिद्ध हुये हैं अर्थात् मानों वे अभी ही साक्षात् अपने सन्मुख ही सिद्ध हुये हों, इस शैली से कथन किया है। भगवान आज मोक्ष पधारे हैं—ऐसे विकल्प में यद्यपि परसन्मुखता की ओर झुकाव है, किन्तु यदि उस झुकाव को हटाकर ज्ञान सामर्थ्य आगे बढ़ता जाय तो वह ज्ञान, सिद्ध पर्याय को देखता है और प्रतीति में लाता है। सिद्धदशा का निश्चय करनेवाला जीव वास्तव में अपनी पर्याय के सामर्थ्य को ही देखता है। सिद्धात्मा परिपूर्ण शुद्ध शक्ति से उत्पाद और व्यय से नित्य स्थिर है, इस का निर्णय करनेवाला कौन है ? यदि सूक्ष्मता से देखें तो जिसने सिद्ध का निर्णय किया है, उसने अपनी सिद्धदशा का ही निर्णय किया है और वह अवश्य ही सिद्ध होनेवाला है।

९— प्रवचनसार के प्रारंभ में श्री कुंदकुंद भगवान मंगलाचरण के रूप में नमस्कार करते हुये कहते हैं कि :—

[गुजराती-हरिगीत]

ते सर्वने साथे तथा प्रत्येकने प्रत्येकने।
वंदुं वळी हुं मनुष्यक्षेत्रे वर्तता अर्हंतने ॥३॥

जिन्हें स्वयं नमस्कार करते हैं, उन्हें वर्तमानरूप में उपस्थित करके नमस्कार करते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि यह मेरी मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर के समान परम निर्ग्रंथता की दीक्षा का महोत्सव है, उस स्वयंवर मंडप में अनंत सिद्धों, अरिहंतों, आचार्यों आदि पंच परमेष्ठियों को उपस्थित करता हूँ अर्थात् अपूर्ण और पूर्ण दशा के बीच अंतर दूर करके मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ। अहा ! कैसे अपूर्व बल है ! मानों पंच परमेष्ठी भगवान सामने ही साक्षात् विराजमान हैं और स्वयं उनकी उपस्थिति में मोक्षदशा को प्राप्त हो रहा हो, ऐसे भाव अवतरित हुये हैं।

१०— जो पहले हो चुके हैं, उन सबको वर्तमान में उपस्थित करता हूँ, इसमें वास्तव में तो पर्याय और द्रव्य के बीच की दीवाल को तोड़कर सामान्य-विशेष को एक किया है। इसमें स्वभाव दृष्टि की प्रधानता है। जो भूतकाल में हो गये हैं, उन सिद्धों को वर्तमान करता हूँ, यहाँ पर भी वास्तव में पर के सामर्थ्य को नहीं जानते, किन्तु अपनी पर्याय के पूर्ण सामर्थ्य को वर्तमानरूप करके प्रतीति

में लेते हैं। महावीर भगवान को पारिणामिक स्वभाव—बिल्कुल शुद्धदशा (मुक्ति) कहीं बाहर नहीं हुई थी किंतु आत्मा में ही हुई थी। यह कहना कि भगवान पावापुरी से निर्वाण को प्राप्त हुये हैं और ऊर्ध्वगमन करके मोक्ष में गये हैं, सो व्यवहार कथनमात्र है। ऊपर गमन करके बाद आत्मा की मुक्ति हुई हो, सो बात नहीं है किन्तु आत्मा स्वयं ही मुक्तदशास्वरूप हो गया है।

११— यह आत्मा की सिद्धदशा की सामर्थ्य की महिमा है, किन्तु उस दशा के सामर्थ्य को कौन स्वीकार करता है? कौन उसकी प्रतीति करता है? पुण्य-पाप से रहित, क्रम रहित प्रत्येक समय में परिपूर्ण ज्ञानस्वभावरूप अनंतानंत काल तक उत्पाद होता रहे, ऐसी जो सिद्धदशा है, उसकी जिस आत्मा ने प्रतीति और महिमा की है, वह आत्मा अपने निर्मल स्वभाव ज्ञान के अतिरिक्त किसका आदर करेगा? किसे मानेगा? यदि अपने सिद्ध समान स्वभाव सामर्थ्य का विश्वास करे तो ही कहा जायगा कि उसे सिद्ध भगवान को देखना आ गया है। सिद्ध भगवान को देखनेवाला और उसकी महिमा को जाननेवाला वास्तव में अपनी-सिद्ध भगवान की शक्ति को जाननेरूप—पर्याय की शक्ति को ही देखता है और उसी की ही महिमा को गाता है। परमार्थत: कोई जीव न तो पर को जानता है और न पर की महिमा को बढ़ाता है।

१२— ध्यान रहे, आज का रटन भिन्न प्रकार का ही है। इन भावों का विचार करके इन्हें अपने भीतर खूब घोलना चाहिये। आज का विषय बहुत अच्छा है, इसमें भीतर का कथन बाहर आ रहा है। यह दिवाली के मंगलगीत गाये जा रहे हैं।

१३— स्व-काल को (अपनी अवस्था को) स्वभावोन्मुख करना ही सच्ची दिवाली है। अर्थात् अपनी अवस्था को स्वभावोन्मुख करके जो केवलज्ञानरूपी सुप्रभात प्रगट हुआ है, वही महा महोत्सव है। भगवान मोक्ष पधारे, इससे इस आत्मा को क्या और देवों ने रत्नदीपकों से महा महोत्सव किया, इससे भी इस आत्मा को क्या? पर के कारण से इस आत्मा को कोई लाभ नहीं है परंतु सिद्धभगवान के सामर्थ्य को प्रतीति में लेकर जिसने अंतरंग में उन्हीं की महिमा को उतारा है, वह 'सिद्ध का लघुनंदन' हो चुका है और वह अल्पकाल में अवश्य सिद्ध होगा।

१४— जिसने अपने ज्ञान में सिद्धभगवान का निर्णय किया है, उसे सिद्धदशा का निर्णय और उसरूप स्थिरता के बीच (श्रद्धा और चारित्र के बीच) भले ही व्यवधान तो पड़ता ही है और उस व्यवधान को एकदम स्वभावोन्मुख होता हुआ ज्ञान स्वीकार भी करता है, परंतु स्वयं जो निर्णय किया है, वह 'स्वीकृति' और 'स्थिरता' ऐसी दो अवस्थाओं के भेद को भूलकर वर्तमान पूर्ण द्रव्य

को ही प्रतीति में लेता है। द्रव्यस्वभाव की स्वीकृति का निर्णय दो दशाओं के बीच के अंतर को अथवा कमी को स्वीकार नहीं करता। भविष्य में सिद्धपर्याय प्रगट होगी, इस प्रकार भूत-भविष्य को याद नहीं करता, किन्तु दृष्टि के बल से पर्याय को द्रव्य के साथ अभिन्न करके (भूत-भविष्य की पर्याय को द्रव्य में वर्तमान को समाविष्ट करके) सिद्धदशा को वर्तमानरूप ही करता है।

१५— यह अपूर्व भाव कहे गये हैं, यह भाव आत्मा के साथ परिणमन कराने योग्य हैं। आत्मा के भावों के साथ इन भावों को जोड़ देना चाहिये। जिसके सिद्ध भगवान की समस्त भविष्य काल की पर्याय की सामर्थ्य की स्वीकृति हुई, उसके स्व पर्याय के स्वसन्मुखपने से विकल्प दूर हुये बिना नहीं रहता। महोत्सव करने से पहले स्वभाव की महिमा आनी चाहिये। स्वभाव को भूलकर सिर्फ बाह्य महिमा करना आत्मा के लाभ का कारण नहीं है, किन्तु स्वभाव की महिमा सहित बाहर में भी महोत्सव करे तो इस में उपादान-निमित्त का मेल है। यदि अपने स्वभाव की महिमा करे तो वहाँ बाह्य में भी भगवान के निर्वाण कल्याणक महोत्सव इत्यादि निमित्त होते हैं। एक अपने सिद्ध स्वभाव के स्वीकार करने पर अनंत सिद्धों की स्वीकारता उसमें आ ही जाती है। ज्ञान की कला की ऐसी सामर्थ्य है बाह्य ठाठवाठ का नहीं।

१६— लाखों मनुष्य आज के दिन की महिमा गाते हैं और बहुतों को यह कहकर कि 'अहो! आज प्रभुजी मुक्त हुये हैं' पर की महिमा पर लक्ष्य जाता है किन्तु उन सब को जाननेवाले अपने ज्ञान की शक्ति की महिमा पर लक्ष्य नहीं जाता। अपने ज्ञान की शक्ति अपने ध्यान में तो आती है किन्तु अंतरंग में स्वयं उस का विश्वास अथवा रुचि नहीं करता। परिणति को अपनी शक्ति की ओर नहीं झुकाता और पर की महिमा गाने में रुक जाता है; इसलिये केवलज्ञानदशा प्रगट नहीं होती।

१७— वास्तव में तो प्रति समय ज्ञान की ही क्रिया होती है। जहाँ-जहाँ मन-वचन और काय की क्रिया होती है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र ज्ञान की क्रिया होती है। मन, वचन, काय तो जड़ हैं। भगवान के प्रति मन से विकल्प, वचन से स्तुति अथवा शरीर से वंदना होती है, उसमें ज्ञान का कार्य कब नहीं होता? किस आत्मप्रदेश में ज्ञान का कार्य नहीं है। प्रतिसमय ज्ञान तो सर्व आत्मप्रदेश में अपना ही कार्य करता है। ज्ञान सर्व व्यापक है। विकल्प के समय भी उससे भिन्न रहकर वह अपना कार्य करता है। भगवान की ओर के लक्ष्य के समय ज्ञान वास्तव में तो भगवान को नहीं जानता; किन्तु भगवान का निर्णय वाली जो ज्ञान शक्ति है, उस ज्ञान सामर्थ्य को ही स्वयं जानता है। जिस

ज्ञान के लक्ष्य में भगवान की शक्ति आती है, उस ज्ञान की शक्ति की महिमा जिसे नहीं ज्ञात होती, वह अंतरोन्मुख होकर भगवान कैसे होगा ? स्वरूपोन्मुख होकर देखे तो प्रति समय अपने ज्ञान की ही महिमा को स्वयं करता है। कभी भी पर की महिमा नहीं गाता। अपने ज्ञान में सिद्ध पर्याय की प्रतीति करके उसे ही वह धन्य मानता है, तब अन्य किसी को भी वह धन्य क्यों न मानेगा ? जिसने सिद्धदशा और केवलज्ञान को धन्य माना है, वह इंद्र की सामग्री को, रत्नदीपकों को अथवा पुण्य के विकल्प को या अन्य किसी को भी धन्य नहीं मानेगा।

१८— आज तो पूर्णानंदी स्वरूप प्रसन्न होकर केवलज्ञान प्रगट हो, वह धन्य है। पुण्य से स्वभाव का बड़प्पन नहीं है। क्या धर्म का फल पुण्य होता है ? जैसे छह खंड का धनी चक्रवर्ती राजा किसी बात पर प्रसन्न हो जाय और कहे कि मेरे योग्य कोई काम बताइये और कहे कि जो कुछ जितना मांगना हो सो मांगिये। आप जो कुछ मांगेंगे वह मैं देने के लिये समर्थ हूँ; इसलिये मुझ से जो चाहो सो मांगो। इस प्रकार चक्रवर्ती राजा प्रसन्न हो और यथेच्छ मांगने को कहे, तब यदि कोई उससे कहे कि मेरे दरवाजे का कूड़ा कचरा साफ कर दीजिये। भला क्या यह उससे कुछ मांगना कहलायगा ? अरे भाई ! तूने यह क्या मांगा, कचरा निकालने का काम क्या चक्रवर्ती राजा से लिया जाता है ? इसीप्रकार यहाँ पर संपूर्ण आत्मस्वभाव प्रसन्न होता है; वह किसके प्रसन्न होता है ? जिस जीव ने सिद्ध भगवान का निर्णय किया है और अपने वैसे परिपूर्ण स्वभाव का निर्णय किया है, उस जीव को स्वभाव प्रसन्न होता है। जहाँ स्वभाव का निर्णय किया, वहाँ पूर्ण स्वभाव प्रसन्न होकर कहता है कि मांग, मांग। तुझे जो दशा चाहिये हो, मैं देने के लिये तैयार हूँ। तुझे जो कुछ होना हो, सो हो जा। जितनी हद तक पहुँचना हो, पहुँच ले। तू चाहे तो संपूर्ण सिद्धपद मांग ले। मैं इसी क्षण तुझे वह देने के लिये तैयार हूँ। इस प्रकार जिस पर्यायरूप स्वयं होना चाहे, वह पर्याय, स्वभाव में से प्रगट हो सकती है। जहाँ संपूर्ण स्वभाव प्रसन्न हुआ, वहाँ केवलज्ञान और सिद्धपदरूप होने की जगह जो यह कहे कि मुझे तो पुण्यरूप होना है, उसे सच पूछो तो मांगना ही नहीं आता। जैसे उस मूर्ख ने चक्रवर्ती से कचरा निकालने को कहा था, उसी प्रकार पूर्ण ज्ञानस्वभाव से तूने विकार के छिलके मांगे हैं। अरे भाई ! तूने यह क्या मांगा ? जिसने पूर्ण स्वभाव को नहीं जाना, वह पुण्य की मांग करता है। पूर्ण स्वभाव में तो एक समय में केवलज्ञान और सिद्धपदरूप होने की शक्ति है। तू जो कुछ होना चाहे हो जा। तु पुण्यरूप होने की मांग मत कर किन्तु सिद्धरूप होने की भावना कर। जो अस्थिरता शेष रह जाय उसे जान, किन्तु उस रूप होने की भावना मत कर।

१९— पर्याय की अपार शक्ति है, वह यहाँ बतानी है। द्रव्य-गुण तो पूर्ण हैं ही किन्तु उसकी पूर्णता को स्वीकार करनेवाला कौन है ? द्रव्य-गुण पूर्ण हैं और वर्तमान पर्याय भी पूर्ण है, उस पर्याय की जो अनंत शक्ति है, उस शक्ति को तो ज्ञान की ही पर्याय जानती है। यद्यपि जाननेवाले ज्ञान का उपयोग तो असंख्य समय का है किन्तु वह यह नहीं जानता कि असंख्य समय में पूर्ण सामर्थ्य है, प्रत्युत वह यह जानता है कि प्रत्येक समय की अवस्था में परिपूर्ण सामर्थ्य है और वह उसकी एक समय में प्रतीति करता है। पूर्ण को ज्ञान में लेते हुये असंख्य समय लगता है किन्तु उसकी प्रतीति तो एक ही समय में हो जाती है।

२०— भगवान के परिपूर्ण दशा प्रगट हो गई है। उस पूर्णदशा में परिपूर्ण ज्ञान और आनंद-सामर्थ्य एक समय में है, इस प्रकार जिस पर्याय ने स्वीकार किया, उसकी भी अनंत महिमा है। तब फिर द्रव्य-गुण की तो क्या महिमा कही जाय! जिस जीव ने अपनी पर्याय में सिद्ध को स्वीकार किया है, उसने सूक्ष्मता से तो अपने आत्मा के साथ सिद्धदशा की एकता की है। उसमें और महावीर में कहीं कोई अंतर नहीं रहता।

२१— कौन इस बात को स्वीकार करता है ? किस का ज्ञान इसे स्वीकार करता है ? इस बात को प्रतीति में लेनेवाला कौन है ? जिसे अपने सत् में यह बात जम गई है, वह परमुखापेक्षी नहीं रहता। अहो! भवमुक्त भगवान को जिसने अपने निर्णय में जमा लिया है, उसे भवरहित भाव का कितना उत्साह होता है। भला, उसके अब भव हो सकता है ? यदि सिद्ध भगवान के भव हो तो उसके भव हो। तात्पर्य यह है कि उसके भव होता ही नहीं है। उसे सिद्धदशा के लिये विलंब हो, यह नहीं चल सकता। अपनी पर्याय में सिद्ध को समाविष्ट किया और फिर अपनी सिद्धदशा के लिये विलंब हो, यह क्यों कर चल सकता है ? भोजन के लिये थाल तैयार किया और जीमने बिठा दिया, फिर खाली थाल बजता रहे अर्थात् परोसने में विलंब हो, यह नहीं चल सकता। इसी प्रकार अपनी पर्याय में सिद्ध भगवान को स्वीकार किया, अपना पर्याय रूपी भोजन थाल तैयार किया और फिर सिद्धदशा रूपी पकवान परोसने में विलंब हो, यह नहीं चल सकता। अहो! देखो तो सही, इसमें तो निर्णय और केवलज्ञान के बीच की दीवाल को तोड़ देने की शक्ति है।

२२— जिसके ज्ञान में केवलज्ञान का परिपूर्ण सामर्थ्य ज्ञात हुआ और उसी की महिमा प्रतीत हुई, उसके निर्णयरूप में केवलज्ञान प्रगट हुआ है। यदि केवलज्ञान बदल जाय तो उसका निर्णय बदले। भले ही अभी वर्तमान प्रगटता केवलज्ञान जितनी नहीं है, फिर भी वर्तमान निर्णय में

तो समस्त केवलज्ञान आ गया है, इसीलिये कहा कि—निर्णयरूप में केवलज्ञान प्रगट हो चुका है। जहाँ यह कहा है कि ''विचार दशा से केवलज्ञान हुआ है, इच्छा दशा से केवलज्ञान हुआ है,'' वहाँ भी यही आशय है। जिसने केवलज्ञान का निर्णय किस, उसका केवलज्ञान वापिस हो ही नहीं सकता; ऐसी अप्रतिहतभाव की ही बात है। यह तो अपने ही भीतर के भाव घुल रहे हैं, पर की कोई महिमा नहीं होती; सब अपने ही भाव को घोल रहे हैं।

२३— यहाँ यह बात चल रही है कि सुखी क्यों कर हुआ जाय? जो सिद्ध हो चुके हैं, उनके लिये यह बात नहीं है; किन्तु जो सिद्ध होनेवाले हैं, उन्हें सिद्ध होने की यह बात है। सिद्धदशा में भगवान के अगुरुलघुगुण के कारण उत्पाद व्यय होता है, उनके प्रतिसमय पूर्ण आनंद रहता है, फिर भी पर्याय तो बदलती ही रहती है। अर्थात् पहली पर्याय का जो आनंद है, वही आनंद दूसरी पर्याय में नहीं है, परंतु उसी जैसा दूसरी पर्याय का दूसरा आनंद है। इस प्रकार सिद्धदशा में आनंद का प्रकार नहीं बदलता, किन्तु काल बदल जाता है।

२४— यहाँ पर किसी के मन में यह विचार उठ सकता है कि भगवान को आनंद है, सो इस आत्मा को उससे क्या लाभ है? उसके लिये कहते हैं कि—भाई! यह कौन निश्चय करता है कि सिद्ध के आनंद है? निश्चय करनेवाला स्वयं है या दूसरा? निश्चय करनेवाला ने अपने ज्ञान की ही महिमा बढ़ाई है और उसमें सिद्ध तथा केवलज्ञानी तो सभी निमित्त के रूप में आये हैं।

२५— यह बात किसके ज्ञान में समझ में आती है? इस बात को किस का ज्ञान स्वीकार करता है? भगवान का ज्ञान स्वीकार करता है या अपना ज्ञान स्वीकार करता है? अपना ही ज्ञान स्वीकारता है। पुण्य-पाप के भाव में अटकनेवाला ज्ञान इसे स्वीकार नहीं करता, किन्तु पुण्य-पाप हीन सिद्धदशा की ओर झुका ज्ञान इसे स्वीकार करता है। अरूपी चैतन्य आत्मस्वभाव का माहात्म्य के सामने जगत् में किसी की महिमा नहीं है। आत्मा का चैतन्य ही केवलज्ञानरूप में परिणमित होता है, तब चार क्षायोपशमिक ज्ञानों का माहात्म्य भी नहीं रहता। ऐसा चैतन्यस्वरूपी भगवान् आत्मा स्वयं ही स्वतंत्र रूप में परिपूर्ण ज्ञान और सुखरूप होता है, इसलिये वही 'स्वयंभू' है। स्वयंभू का अर्थ है स्वतंत्रतया आत्मा का ज्ञान-सौख्यरूप परिणमन। यही महिमामय मांगलिक है।

२६— जिसने एक आत्मा की परिपूर्ण दशा को ज्ञान में स्वीकार किया है, उसने अपने ज्ञान में अनंत सिद्ध आत्माओं को स्वीकार किया है और अपना भी वैसा ही स्वरूप है, इस प्रकार स्वीकार किया है। अर्थात् उसने भंग-भेद का निषेध किया है। 'जैसी मेरे ज्ञान में प्रतीति हुई है,

वैसी ही सिद्धदशा स्वरूप से परिणमन करना, यही मेरा स्वभाव है, अपूर्ण दशा अथवा भंग-भेदरूप से परिणमन करना, यह मेरा स्वरूप नहीं है; सिद्धों को मैं जानता हूँ; इस प्रकार कहा जाता है किन्तु वास्तव में तो मैं अपनी ही पर्याय को जानता हूँ, उसमें वे ज्ञात हो जाते हैं-ऐसा मेरा स्वरूप है' इस प्रकार स्व का बहुमान होना चाहिये।

२७— प्रत्येक जीव यद्यपि अपनी ही पर्याय की शक्ति को जानता है, परंतु उसे अपने ज्ञान पर विश्वास नहीं होता, इसलिये वह पर का बहुमान करने में लग जाता है और निज को भूल जाता है। परंतु 'मैं अपनी ज्ञानशक्ति को जानता हूँ, पर को मैं वास्तव में नहीं जानता और मेरी ज्ञानशक्ति तो परिपूर्ण है' इस प्रकार निज की महिमा को जाने तो कोई पर की महिमा नहीं आये। आत्मा स्वयं असंख्य प्रदेशी अनंत गुण का पिंड है, उसका स्मरण करने पर समस्त पिंड पर्याय में आ जाता है। एक समय की अवस्था में अनंत गुण का पिंड वर्तमान रूप में आ जाता है और उसकी एक समय में प्रतीति करनेवाली मेरी पर्याय है, इस प्रकार ज्ञान की अपनी अवस्था की शक्ति के गीत गाये गये हैं।

२८— अहो! आज तो अपूर्व भाव उद्‌भुत हुये हैं। आत्मा में इन भावों का मंथन करना चाहिये। ऐसी सरस बात कभी नहीं हुई थी, आज तो एक अनोखी ही बात कही गई है। अलौकिक अमृत निकला है और इस प्रकार यह अपूर्व मांगलिक हुआ है।

सुवर्ण की कसोटी

पं. दामोदरदासजी जैन, सागर

विद्वत्परिषद को इस वर्ष काठियावाड़ का आमंत्रण मिलने से व परिषद का लाइफ मेम्बर होने के कारण मुझे भी परिषद के जल्से में पहुंचने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

सोनगढ़ की स्टेशन पर से ही श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप के ऊपर लगी हुई पताका के दर्शन हुए मानों पवन से प्रेरित होकर लहराती हुई सबको वहाँ अपने कल्याण का मार्ग जानने के लिये

बुला रही है। सोनगढ़ या सुवर्णपुरी अथवा यों कहना चाहिये कि श्रमणगढ़ (साधु-सन्तों के निवास का स्थान) पहुँचते ही वहाँ के कार्य-कुशल कार्यकर्ताओं की जिस कार्यप्रणाली का अनुभव हुआ, वह अन्य के लिये अनुकरणीय है। पुरुष, स्त्री, व दम्पति के ठहरने के लिये अलग-अलग व्यवस्था रखी गई है।

अन्न-वस्त्र के आज के संकट के जमाने में भी वहाँ की अतिथि भोजनशाला चालु है, जिसमें कोई फीस नहीं माँगी जाती, भोजन सब वहाँ की पद्धति के अनुसार अच्छा (घर जैसा) बनाया जाता है, सबेरे घंटी बजी कि चाय दूध पीने के लिये एक साथ उपस्थित हो जाते हैं, इसी प्रकार दोपहर व शाम को भोजन के लिये घंटी बजाकर ही बुलावा दिया जाता है, यह कोई जरूरत नहीं कि एक एक को उनके निवास स्थान से बुलाया जाय। भोजनशाला का खर्च करीब ४०००० रुपये वार्षिक है जो यहाँ के दानियों द्वारा बराबर पूरा होता रहता है। यहाँ ३०० रजाई गद्दों का इंतजाम है।

श्री १००८ सीमंधरस्वामी का मंदिर व समवसरण मंदिर देखने योग्य चीज हैं। मंदिर में पूजन करने की इच्छा रखनेवालों के लिये काफी धोती, दुपट्टों का प्रबंध है जो पीले रंगे गये हैं। समवसरण मंडप में रखे हुए चार्ट (हिन्दी और गुजराती) आप को वहाँ का सब वर्णन बता देते हैं।

स्वाध्याय मंदिर में स्थान की कुछ संकीर्णता होने से अब जो नया श्री कुंदकुंद प्रवचन मंडप करीब सवा लाख रुपया की लागत से बनाया गया है, उसमें बीच में कोई भी खंभे वगैरह का आवरण न रखकर व पक्का मंडप ५० फुट चौड़ा व इससे दुगना १०० फुट लंबा बड़ा ही सुंदर बनाया गया है, जैसा अभी दूसरी जगह देखने में नहीं आया।

इस मंडप में ही आज कल पूज्य स्वामीजी का शास्त्र प्रवचन सबेरे शाम होता है, इसी मंडप में विद्वत्परिषद का अधिवेशन हुआ जिसकी दो दिन की कार्रवाई प्रगट हो चुकी है। तीसरे दिन सबेरे शास्त्र प्रवचन के बाद करीब ९.०० बजे परिषद की अंतिम बैठक हुई जिसमें परिषद के सभापति श्री पं० कैलाशचंदजी शास्त्री का जो अंतिम भाषण हुआ, इसमें बड़े अच्छे सुंदर ढंग से वहाँ की व्यवस्था तथा पूज्य कहानजीस्वामी के प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए मंडप में लगे हुए श्री १०८ कुंदकुंदाचार्य व उन्हीं के बांई तरफ लगे हुए श्री कानजीस्वामी के चित्र का प्रदर्शन करते हुए सभापति ने यह भावना भाई थी कि वह दिन हम लोग देखना चाहते हैं कि जिस दिन कानजीस्वामी भगवान कुंदकुंदाचार्य के रूप होंगे। प्रवचन मंडप के सभी चित्र व शास्त्रों के उद्धरण बड़े ही

आकर्षक हैं। सभापति अपने भाषण में यह भी प्रगट करने से नहीं चूके कि यहाँ आकर हम लोगों ने असली अर्थ जान पाया है।

इसके बाद यहाँ के कुशल कार्यकर्ताओं ने भी अपनी सब व्यवस्था उपस्थित जनता में बिखेर दी और समझाया कि यहाँ की कई बालिकाओं ने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लिया है। यहाँ आकर कई लक्षाधिपति, करोड़पति जैनी (जो पहले श्वेताम्बर थे) आज दि० जैन धर्म के पक्के श्रद्धालु बन गये हैं और अनेक दम्पतियों ने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लिया है और भी अनेक सज्जनों का परिचय दिया जिन्होंने यहाँ आकर हजारों रुपया बिखेर कर इस बगीचे में इन सुंदर पुष्पों को पैदा किया है।

श्री कहानजीस्वामी बाल ब्रह्मचारी हैं। आपने भगत हीराचंदजी से दीक्षा ली थी, और कितना अभ्यास व मनन किया उसका प्रत्यक्ष उदाहरण वहाँ दिख रहा है। सबसे पहले सं० १९७८ में आपको समयसार हिन्दी टीका प्राप्त हुई। समयसार के प्राप्त होते ही इस कुशल जौहरी ने इसकी परख कर ली और हृदय में अत्यंत आनंदित हुए, और यह इच्छा हुई कि हे प्रभो! वह दिन कब आवे जब इस संसार के प्राणी, सर्वज्ञ द्वारा कथित इदन अमूल्य सिद्धांतों की कदर करेंगे और अनादि काल की दीनता को छोड़ेंगे। इस करुणाबुद्धि से समयसार पर आपके अपूर्व प्रवचन प्रारम्भ हुए और पहले तो काठियावाड़ के ही हजारों जीवों को इसका लाभ प्राप्त हुआ।

स्वामीजी सं० १९९१ में चैत्र वदी ३ को सोनगढ़ पधारे थे और श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी की जन्म जयन्ती चैत्र सुदी १३ को आपने मुंहपत्ती (स्थानकवासी साधु का चिह्न जो पट्टी मुँह पर बाँधे रहते हैं) छोड़ी थी, व दिगम्बर जैनधर्म के पक्के श्रद्धानी बने थे। आज चैत्र वदी ३ को यहाँ सोनगढ़ में आपको पूरे १२ वर्ष व्यतीत हुए तब से आप यहाँ ही रहते हैं। आपके इस व्रत के पहले यहाँ दिगम्बर जैनधर्म के धारी कोई नहीं थे। काठियावाड़ में दि० जैन धर्म के सिद्धांतों के प्रचार का पहला श्रेय आपको है।

सोनगढ़ की हवा शास्त्रमय है। सबेरे पूजन, फिर ८.०० से ९.०० शास्त्र प्रवचन, फिर चर्चा, फिर ३.०० से ४.०० शास्त्र प्रवचन, फिर जिनमंदिर में एक घंटा भक्ति फिर ८ ये ९ तक पुरुषों में स्वामीजी के समक्ष शंका समाधान, और उसी वक्त स्त्री सभा अलग होती है। यह कहने में अत्युक्ति न होनी चाहिए कि सिद्धांत में वर्णित निश्चयनयरूप सोने की परख इस जौहरी ने की है और निश्चयनय का उपदेश उनके व्याख्यान में हो रहा है। 'जैन मित्र' में से साभार उद्धृत

धर्म और पुण्य

(पूज्य श्री कानजी महाराज का प्रवचन)

जगत् में अज्ञानी जीव पुण्यवंतों का आदर करते हैं और इन्द्र चक्रवर्ती इत्यादि पुण्यवान् आत्मा धर्मी जीवों का (वे पुण्यहीन हों तो भी) आदर करते हैं। तब विचार करो कि इस में किसकी महिमा हुई, धर्म की या पुण्य की ? धर्म की ही महिमा हुई है। इससे सिद्ध होता है कि जिस भाव से इन्द्रपद अथवा चक्रवर्ती पद मिला है, उस शुभभाव का भी धर्म में आदर नहीं है, वह हेय है। पुण्य की अपेक्षा धर्म वस्तु भिन्न है, इसीलिये पुण्यवान प्राणी धर्मी जीव का आदर करते हैं। पुण्य से धर्मी का माप नहीं होता, अत: यह बताया जा रहा है कि धर्मी का माप कैसे होता है।

कोई धर्मात्मा मुनि पहले के किसी पापोदय के कारण घानी में पेले जा रहे हों और उधर किसी इन्द्र की हजारों देव सेवा कर रहे हों, तथापि इन्द्र आकर धर्मात्मा मुनि को नमस्कार करता है और कहता है कि — ''अहो! धन्य धर्मात्मा! धन्य मुनि! आप के पवित्र चरण कमल में मेरा मस्तक नत है'' यह नमस्कार धर्मदृष्टि से है। यदि वंदना करनेवाले की दृष्टि पुण्य-पाप पर हो तो वह धर्मात्मा मुनि की वंदना नहीं करता। धर्मात्मा मुनि के पापोदय विद्यमान है और इन्द्र के पुण्य का उदय है किन्तु इन्द्र की दृष्टि पुण्य-पाप पर नहीं, धर्म पर हैं। मुनि को अंतरंग में विशेष धर्म प्रकट हुआ है, इसलिये धर्म को नमस्कार करता है।

बाह्य सामग्री का त्याग कर देना ही धर्मी का स्वरूप नहीं है। स्वयं पुण्यवान् हो और कोई धर्मात्मा अधिक पुण्यवान न हो, तथापि स्वयं धर्मात्मा को वंदना नमस्कार करता है क्योंकि उस धर्मात्मा के पास पुण्य की अपेक्षा कोई भिन्न प्रकार की वस्तु है, जो पुण्य से अधिक ऊँची है, इसीलिये वह धर्मात्मा वंदनीय है। इस प्रकार धर्म के समक्ष पुण्य हेय है और धर्मी के पुण्य का आदर नहीं है। यदि श्रद्धा में पुण्य का आदर हो तो वह धर्मी नहीं है। श्रद्धा में पुण्य का आदर कब दूर होता है। 'मैं ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा हूँ, पुण्य-पाप दोनों विकार है, वह मेरा स्वरूप नहीं है' - ऐसी प्रतीति तो हो तो श्रद्धा में से पुण्य का आदर दूर हो जाता है अर्थात् जिसे आत्मा की पहिचान है, वह धर्मी है, वही वंदनीक है। कोई जीव बाह्य में त्यागी हो किन्तु उसकी श्रद्धा में पुण्य भाव का आदर हो तो वह धर्मात्मा नहीं है और इसीलिये वह वंदनीय भी नहीं है।

तू जिसे वंदना करता है, उसमें और तुझमें क्या अन्तर है ? वह क्यों वन्दनीय है, इसका निश्चय करना चाहिये। कोई बाह्य त्यागी है, इसलिये वंदनीय है, यह बात नहीं है। जिस भाव से बाह्य सामग्री मिलती है, यदि उस भाव का श्रद्धा में आदर हो तो न तो वह त्यागी है और न धर्मात्मा, किन्तु वह तुझ जैसा ही है। धर्मात्मा तो वह है जिसे सामग्री अथवा सामग्री का कारण जो पुण्य-पाप है, उसमें आदर नहीं हो। भव और भव का कारण पुण्य-पाप का विकारभाव है, धर्मात्मा को उसका आदर नहीं होता; इसप्रकार परीक्षा करके धर्मात्मा को पहचाने बिना मात्र बाह्य सामग्री का त्याग देखकर जो आदर करता है, वह धर्म का नहीं किन्तु बाह्य त्याग का आदर करता है, उसे धर्म के स्वरूप की पहिचान नहीं है। स्वयं बाह्य अनुकूलाओं का त्याग नहीं कर सकता और किसी के बाह्य सामग्री का त्याग देखता है, तब वह बाह्य त्याग का आदर करने लगता है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि भीतरी क्या अन्तर है ? बाह्य में त्याग होने पर भी जो शुभभाव से लाभ मानता है, उसके भीतर जिस भाव से बाह्य सामग्री मिलती है, उस पुण्यभाव का आदर करता है और जिसे पुण्य का आदर है, उसे पुण्य के फल के प्रति भी आदर होता है, इसलिये वह जीव धर्मात्मा नहीं है।

धर्म अपूर्व वस्तु है, पुण्य-पाप से परे है। पुण्य-पाप दोनों समान हैं। धर्मी जीव श्रद्धा में उन दोनों को समान मानता है अर्थात् दोनों को हेय समझता है। वह यह नहीं मानता कि पाप खराब है और पुण्य अच्छा। धर्मात्मा को पापी जीव के प्रति तिरस्कार नहीं होता और न पुण्यात्मा को देखकर वह प्रसन्न होता है क्योंकि वह दोनों विकार के फल हैं। धर्मात्मा ने पुण्य और पाप को विकार के रूप में समझा है, इसलिये विकारभाव को करनेवाले और उसके फल को भोगनेवाले पर समभाव होता है। यदि अस्थिरता के कारण अपने पुण्य-पाप के भाव हो जाते हैं तो उनका भी धर्मी के आदर नहीं होता। यद्यपि वे पापभाव से बचने के लिये शुभभाव करते हैं किन्तु उन्हें उस भाव का भीतर से आदर नहीं होता। धर्मी का यही लक्षण है कि वे पुण्य-पाप रहित आत्मा के शुद्ध ज्ञायक -स्वभाव को जानते हैं, इसलिये उन्हें पुण्य अथवा पाप भाव के प्रति आदर नहीं होता।

धर्मात्मा की वंदना करने में उपरोक्त स्वरूप को

प्रथम व द्वितीय वर्ष की

आत्मधर्म की फाईल

यदि आपकी आध्यात्मिक रुचि है, और आप श्री कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन पढ़ना चाहते हैं तो आत्मधर्म की प्रथम और दूसरे वर्ष की फाईल (सजिल्द) मंगा लीजिये। प्रत्येक का मूल्य ३.०० हैं।

आत्मधर्म कार्यालय

मोटा आंकडिया (काठियावाड)

समझने का उत्तरदायित्व वंदना करनेवाले पर है। यदि ऊपर के कथनानुसार धर्म के स्वरूप को समझे बिना वंदना की जाय तो वह वंदना धर्मात्मा के लिये नहीं होती, क्योंकि धर्मात्मा का स्वरूप समझे बिना उसकी वंदना कैसे हो सकती है।

उपरोक्त कथन का सार -

१— पुण्य की अपेक्षा धर्म भिन्न वस्तु है।

२— बाह्य त्याग धर्मात्मा का लक्षण नहीं है।

३— जिसकी वंदना की जाय, उसके स्वरूप को जानना चाहिये।

४— पुण्य-पाप दोनों धर्मदृष्टि से समान हैं क्योंकि दोनों विकार हैं।

५— वंदनीय और वंदना करनेवाले की श्रद्धा में पुण्य का आदर नहीं होना चाहिये, तभी यथार्थ वंदना कहलायेगी।

६— धर्मात्मा का अंतरंग स्वरूप जाने बिना सच्चा नमस्कार नहीं हो सकता।

निश्चय का आश्रय और व्यवहार का निषेध

(पूज्य श्री कानजी महाराज का प्रवचन)

अनन्त प्राणियों को अनन्तकाल से अपने निश्चय स्वभाव की महिमा ज्ञात न होने से राग और विकल्प का सूक्ष्मपक्ष रह जाता है, उस व्यवहार के सूक्ष्मपक्ष का स्वरूप यहाँ कहा जाता है, इसे ध्यानपूर्वक समझिये।

जीव को ज्ञान में परवस्तु, विकल्प तथा आत्मा का स्वभाव भी ज्ञात होता है। उसके ख्याल में यह तो आता है कि आत्मवस्तु, राग अथवा परवस्तु जैसी नहीं है, यह ख्याल में आने पर भी यदि राग में आत्मा का वीर्य रुक जाय तो व्यवहार का पक्ष रह जाता है। आत्मा के वीर्य को पर की ओर के झुकाव से प्रथक करके शुभराग का जो लक्ष होता है, उस पर भी लक्ष न देकर स्वभाव के ज्ञान से वीर्य को उस शुभभाव में न लगाकर यदि शुभ से भी भिन्न आत्मस्वभाव की ओर प्रवृत्त करे तो समझना चाहिए कि जीव ने निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध किया है।

आत्मा वर्तमान में ही ज्ञानादि अनन्त स्वभावगुण का पिंड है, उसकी अवस्था में जो वर्तमान अशुभ अवस्था होती है, उसे छोड़ने को जीव का मन होता है, क्योंकि उसमें अशुभ से शुभ में वीर्य को युक्त करना वर्तमान मात्र के लिए ही वीर्य का कार्य है। नग्नदिगम्बर जैन साधु होकर पंच महाव्रत का शुभ राग तथा देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करके उनकी कही हुई बात ध्यान में लाने पर भी सम्यग्दर्शन का अभाव होने से जीव के सूक्ष्मरूप में व्यवहार की पकड़ रह जाती है।

ज्ञान में शुभ और अशुभ दोनों का ख्याल करके जीव वीर्य को अशुभ में से शुभ में बदल देता है परन्तु वह वर्तमान मात्र के शुभराग में वीर्य का जो वजन है, उसे लेकर यदि स्वभाव की ओर ढाल दे तो व्यवहार का पक्ष छूट जाय। आत्मा के स्वभाव में विकार नहीं है, विकार क्षणिक है और पर पदार्थ भिन्न हैं—यह ध्यान में लिया अर्थात् १— शरीर इत्यादि परवस्तु मैं नहीं हूँ, यह ज्ञान में धारण कर लिया। २— कर्म जड़ है, वह आत्मा से भिन्न है, यह शास्त्र से समझा और जो ३— अशुभ भाव होता है, उसे अवस्था के लक्ष में रह रहकर बदला-अवस्थादृष्टि में ही रह-रहकर अवस्था में अशुभ को बदलकर शुभ किया। शुभभाव, अशुभभाव और शुभाशुभरहित आत्मस्वभाव को ध्यान में लिया तथा जो अशुभ होता है, उसे आत्मवीर्य के द्वारा छोड़कर शुभ किया किन्तु स्वभाव की ओर पुरुषार्थ का जो बल जाना चाहिए, उसकी जगह वर्तमान शुभ पर ही उसके पुरुषार्थ का बल अटक रहा, इसलिये निश्चय का आश्रय नहीं हुआ और न व्यवहार का पक्ष ही गया।

जीव को ज्ञान में पर वस्तुयें, शुभ तथा अशुभ किसे कहा जाय यह, और शुभाशुभ से रहित स्वभाव ध्यान में आने पर भी, उस शुभ की ओर से वीर्य का बल छूटकर स्वभाव के बल की ओर न जाय तो उस जीव के निश्चय का विषय जो स्वभाव है, वह रुचिकर नहीं हुआ अर्थात् उसका वीर्य स्वभाव की ओर नहीं जाता, प्रत्युत व्यवहार में ही अटका रहता है।

अशुभ से शुभभाव करने में वीर्य वर्तमान मात्र के लिए ही है और शुभाशुभरहित स्वभाव की रुचि के वीर्य का त्रैकालिक बल है। स्वभाव की रुचि का त्रैकालिक बल में शुभ के झुकाव में से वीर्य प्रथक होकर जब स्वभाव की महिमा में उसका बल आता है, तब त्रैकालिक की दृष्टि से सहज ही वर्तमान मात्र के लिए व्यवहार का निषेध हो जाता है, उसके ऐसा विकल्प नहीं होता कि निषेध करूँ। इस प्रकार निश्चयनय, व्यवहारनय का निषेध करता है।

जानने में 'राग मेरा स्वरूप नहीं है' इस प्रकार व्यवहार का जो निषेध है, सो भी राग है। मैं जीव हूँ—विकार मेरा स्वरूप नहीं है, इस प्रकार नव तत्त्वादिक के विचार के वर्तमान मात्र के भावों

पर जो वीर्य का बल आ सकता है, परन्तु स्वभाव से पराङ्मुख झुकाव से छूटकर अन्तर स्वभाव में झुकने के लिये वीर्य की उन्मुखता काम न करे तो कहना होगा कि वह व्यवहार की रुचि में जमा हुआ है, किन्तु उसका झुकाव निश्चय स्वभाव की ओर नहीं है। जिस वीर्य का झुकाव निश्चय स्वभाव की ओर ढलता है, उस वीर्य में वर्तमान का झुकाव [व्यवहार का पक्ष] अवश्य छूट जाता है, इसलिए अनन्त तीर्थंकरों ने निश्चय के द्वारा व्यवहार का निषेध किया है।

अभव्य और भव्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि बहुत करे तो अशुभ को छोड़कर वैराग्य तक आता है; इस वैराग्य का शुभभाव भी वर्तमान मात्र के लिये है, वहाँ वर्तमान पर ज्ञान का लक्ष स्थिर हुआ है, वहाँ से छोड़कर त्रिकाली स्वभाव का ज्ञान का लक्ष स्थिर कर रखूं; इस प्रकार स्वभाव की ओर वीर्य का बल जब तक न हो, तब तक निश्चय का आश्रय नहीं होता और निश्चय के आश्रय के बिना व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता।

व्यवहार का आश्रय तो वह अभव्य जीव भी करता है जिसकी कभी मुक्ति नहीं होगी; इसलिए निश्चय के आश्रय से ही मुक्ति होती है, जिस से निश्चयनय से व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही हैं।

सच्चे देव, गुरु, शास्त्र क्या कहते हैं ? इसका ख्याल ज्ञान में आता है, तथा पंच महाव्रतादि के विकल्परूप जो व्यवहार उठता है, उसे भी ज्ञान जानता है–किन्तु उस रागरूप व्यवहार से निश्चय स्वभाव की अधिकता (पृथकत्व) जब तक दृष्टि में नहीं बैठती, तब तक निश्चय स्वभाव में वीर्य का बल स्थिर नहीं होता और निश्चय स्वभाव के आश्रय के बिना निश्चय सम्यक्त नहीं होता। निश्चय सम्यक्त के बिना व्यवहार का निषेध नहीं होता; इस प्रकार जीव के व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष रह जाता है।

'राग वर्तमानमात्र के लिए विकार है, प्रत्येक अवस्था में वह राग बदलता जाता है और उस विकार के पीछे निर्विकार स्वभाव को धारण करनेवाला द्रव्य ध्रुव है', इस प्रकार विकल्प के द्वारा जीव के ध्यान में आता है, किन्तु जबतक त्रैकालिक स्वभाव में वीर्य को लगाकर अरागी निश्चय स्वभाव का बल नहीं आता, तब तक व्यवहार का निषेध नहीं होता और व्यवहार के निषेध के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अज्ञानी के व्यवहारनय के पक्ष का सूक्ष्म अभिप्राय रह जाता है, वह केवलीगम्य है, छद्मस्थ के वह कदाचित् दृष्टिगोचर न भी होता। वह अभिप्राय कैसे रह जाता है इस संबंध में यहाँ कथन चल रहा है।

आत्मा बिल्कुल ज्ञानस्वभावी, अकेला, ज्ञायक, शान्त स्वरूपी है—ऐसे स्वभाव को जानते हुए भी, और राग का ख्याल आते हुये भी, स्वभाव की ओर वीर्य ढलकर अंतरंग में वह बात नहीं बैठती, इसलिए वीर्य बाहर अटक जाता है। यदि स्वभाव में यह बात जम जाय कि बहिरमुख भाव के बराबर मैं नहीं हूँ, तो उसका वीर्य अधिक होकर निश्चय में ढल जाता है और निश्चय में वीर्य ढल गया कि वहीं व्यवहार का निषेध हो जाता है।

अभव्य जीवों को तथा मिथ्यादृष्टि भव्य जीवों को स्वभाव का ख्याल आने पर भी स्वभाव की महिमा नहीं आती। ख्याल में आता है, इसका अर्थ यहाँ पर सम्यक्ज्ञान में आने की बात नहीं है किन्तु ज्ञानावरण के क्षयोपशम की प्रगटता में इस बात का ख्याल आता है। ग्यारह अंग के ज्ञान में सब बात आ जाती हैं, कि आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है-राग क्षणिक है, किन्तु रुचि का वीर्य शुभ की ओर से नहीं हटता। बहुत गहराई में स्वभाव माहात्म्य दशा में वीर्य को लगाना चाहिये। वह यह स्वयं नहीं करता, इसलिए व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

यहाँ पर अभव्य जीव की बात तो मात्र दृष्टान्त के रूप में कही है किन्तु सभी मिथ्यादृष्टि जीव कहीं न कहीं व्यवहार के पक्ष में अटक रहे हैं, इसीलिए उन्हें निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता। जैन साधु होकर और सच्चे देव, शास्त्र, गुरु को मानकर, वे क्या कहते हैं—यह ख्याल में भी लिया किन्तु वर्तमान भाव के झुकाव से (अवस्था के लक्ष में रुककर) वीर्य बलवत्तर होता है, उस वीर्य को वर्तमान से हटाकर त्रिकाली स्वभाव की ओर नहीं लगाता। वर्तमान पर्याय को वर्तमान में हटाकर त्रैकालिकता की ओर लगाये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिये सर्वज्ञ भगवान ने सदा निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध किया है।

जीव को सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा इत्यादि शुभरागरूप व्यवहार का पक्ष है-वर्तमान मात्र के भाव का आग्रह है, उसकी जगह यदि त्रिकालिकता की ओर वीर्य का बल लगाया जाय तो निश्चय का आश्रय प्राप्त हो, किन्तु त्रिकालिकता की ओर वीर्य का बल नहीं है अर्थात् वीर्य पर में (पराश्रित व्यवहार में) ही अटक जाता है।

बाह्य के त्याग अथवा प्रवृत्ति पर सम्यग्दर्शन अवलंबित नहीं है किन्तु वह निश्चय स्वभाव पर आश्रित है। यदि जीव, स्वभाव की ओर की रुचि में वीर्य का बल नहीं लगाता तो उसके व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता और सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन अन्तरंग स्वभाव की वस्तु है।

त्रैकालिक और वर्तमान इन दोनों पहलुओं का ख्याल आने पर भी, त्रैकालिक स्वभाव की रुचि की ओर नहीं झुकता किन्तु वर्तमान पर्याय की रुचि की ओर उन्मुख होता है। "यह स्वभाव

है–यह स्वभाव है'' इसप्रकार यदि स्वभाव रुचि की ओर झुके तो वर्तमान पर जो बल है, वह तत्काल छूट जाय किन्तु त्रिकाली स्वभाव को 'यह है' इस प्रकार रुचि में लेने के बदले वर्तमान शुभराग में 'यह राग है' इस प्रकार वर्तमान पर उसका वजन रहता है, इसलिए त्रिकाल मात्र ज्ञायक –स्वभाव में वीर्य का झुकाव भीतर परिणमित नहीं होता, अर्थात् निश्चय का आश्रय नहीं होता और व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता। व्यवहार का पक्ष मिथ्यात्व है।

आत्मा का जो वीर्य कार्य करता है, वह तो अवस्था रूप (वर्तमान) ही है परन्तु उस वर्तमान वीर्य को वर्तमान के लक्ष पर (अवस्था दृष्टि में) स्थिर करे और त्रैकालिक अंतरंग स्वभाव की ओर वीर्य को प्रेरित न करे तो विकल्प नहीं टलता और सम्यग्दर्शन नहीं होता।

प्रत्येक जीव के वर्तमान अवस्था में वीर्य का कार्य तो होता ही रहता है किन्तु उस वीर्य को कहाँ स्थापित करना चाहिये, यह भान न होने से जीव के व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता। ''मैं एक ज्ञायकभाव हूँ, मैं वर्तमान अवस्था के बराबर नहीं हूँ किन्तु अधिक त्रिकाल शक्ति का पिंड हूँ'' इस प्रकार अपने निश्चय स्वभाव की रुचि के बल में वीर्य को स्थापित करना चाहिए–एकाग्र करना चाहिए। यदि निश्चय स्वभाव की ओर के बल में और रुचि में वीर्य को न जोड़े तो वह वीर्य व्यवहार के पक्ष में जुड़ जाता है, और उसके व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष नहीं छूटता।

जब व्यवहार के पक्ष से छूटकर वीर्य में ज्ञायकस्वभाव का बल स्थापित किया जाता है, तब भी व्यवहार का ज्ञान तो (गौणरूप में) रहता ही है, कहीं ज्ञान छूट नहीं जाता क्योंकि वह तो सम्यक् ज्ञान का अंश है। व्यवहार का ज्ञान छूटकर निश्चय की दृष्टि नहीं होती। सम्यग्दर्शन के होने पर व्यवहार का ज्ञान तो रहता है किन्तु उस पर से दृष्टि उठकर स्वभाव की ओर एकाग्र हो जाती है, इस प्रकार निश्चय के आश्रय के समय व्यवहार का पक्ष छूट जाने पर भी ज्ञान तो सम्यक्ज्ञान रूप अनेकान्त ही रहता है, किन्तु जब ज्ञान सर्वथा व्यवहार की ओर ढ़लता है, तब निश्चयनय का आश्रय किंचित्मात्र भी न होने से वह व्यवहार का पक्षवाला ज्ञान मिथ्यारूप एकान्त है। सम्यग्दर्शन होने के बाद निश्चय का आश्रय होने पर भी जबतक अपूर्ण भूमिका है, तब तक व्यवहार रहता है किन्तु निश्चयनयाश्रित जीव को उस ओर आसक्ति नहीं होती, उसके वीर्य का बल व्यवहार की ओर नहीं ढ़लता।

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की पहचान, नवतत्त्व का ज्ञान, ब्रह्मचर्य का पालन तथा पूजा, व्रत, तप और भक्ति इत्यादि के करने पर भी जीव के मिथ्यात्व क्यों रह जाता है ? क्योंकि जीव 'यह वर्तमान परिणाम ही मैं हूँ और उसी से मुझे लाभ है' इस प्रकार वर्तमान पर ही लक्ष को स्थिर करके

उसमें अटक रहा है, परन्तु त्रैकालिक एकरूप निरपेक्ष स्वभाव की ओर नहीं गया, इसीलिए मिथ्यात्व रह गया है। यदि जीव वर्तमान ऊपर के लक्ष को छोड़कर त्रैकालिक स्वभाव के लक्ष में ले तो सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन का आधार (आश्रयभूत वस्तु) त्रैकालिक स्वभाव है, वर्तमान प्रवृत्त पर्याय के आधार पर सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता।

निश्चय—अखंड अभेद स्वभाव की ओर जाते हुये बीच में जो विकल्पादिरूप व्यवहार आये, उसके लिये खेद होना चाहिये; ऐसा न करके जो उसके प्रति उत्साहित होता है, उसे स्वभाव के प्रति आदर नहीं रहता। अर्थात् वह मिथ्यात्वी ही रहता है। निश्चय स्वभाव की ओर के वीर्य का उल्लास होने के बदले व्यवहार में जिसका वीर्य उल्लसित होता है, उसके स्वभाव की ओर का उल्लसित भाव परावलंबित पड़ा रहता है, इसलिये जीव के व्यवहार का पक्ष दूर नहीं होता।

व्यवहार की रुचिवाला जीव भगवान की दिव्यध्वनि का उपदेश सुनकर उसमें से भी व्यवहार की ही रुचि को पुष्ट करता है। ''भगवान की वाणी में निश्चय स्वभाव का और व्यवहार का—दोनों का मेल कर दिखाया है, अर्थात् दोनों नयों को समान स्तर पर रखा है'' यों मानकर वह अज्ञानी जीव अपने व्यवहार के हठ को दृढ़ करता है। परंतु भगवान की वाणी तो निश्चय का आश्रय करके व्यवहार का निषेध करने को कहती है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों के बीच परस्पर विरोध पाया जाता है, इसे वह अज्ञानी नहीं जानता और न उधर रुचि ही करता है तथा व्यवहार का निषेध करके निश्चय में वीर्य को उल्लसित भी नहीं करता। निश्चय के आश्रय का उल्लास न होने से बीच में व्यवहार आता है, उसका खेद न करके कह दिया करता है कि 'व्यवहार तो बीच में आयेगा ही' और इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के व्यवहार की गहरी, सूक्ष्म मिठास विद्यमान रहती है और इसलिये वह अपने स्वभाव में उल्लसित होकर सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या ऐसे एकांत निश्चय नहीं हो जाता?

उत्तर—नहीं, इसी में सच्चा अनेकांत है। निश्चय स्वभाव और राग दोनों को जानकर जब वीर्य के बल को निश्चय स्वभाव में लाना होता है, तब ज्ञान में गौणरूप में यह ख्याल तो होता ही है कि अवस्था में विकार होता है। स्वभाव की ओर लानेवाला जीव पर्याय की अपेक्षा से अपने को केवलज्ञानी नहीं मानता। इसप्रकार ज्ञान में निश्चय और व्यवहार का निषेध किया है और यही अनेकांत है। दोनों पक्ष को जानकर एक में आरूढ़ हुआ और दूसरे में अनारूढ़ हुआ—अर्थात् निश्चय को ग्रहण किया और व्यवहार को छोड़ा, बस यही अनेकांत है। किन्तु यदि निश्चय और व्यवहार दोनों को आश्रय योग्य माने तो वह एकान्त है। (दो नय परस्पर विरोध रूप हैं, इसलिये

दोनों का आश्रय नहीं हो सकता। जीव जब निश्चय का आश्रय करता है, तब उसके व्यवहार का आश्रय छूट जाता है और जब व्यवहार के आश्रय में अटक जाता है, तब उसके निश्चय का आश्रय नहीं होता। ऐसा होने से जो दोनों नयों को आश्रय योग्य मानते हैं, वे दोनों नयों को एकमेक मानने के कारण एकांतवादी हैं।) राग सम्यग्दर्शन में मदद न करे किन्तु 'राग मुझे मदद नहीं करता' ऐसा विकल्प भी मदद न करे, तब इस प्रकार राग से मुक्त होकर जब जीव स्वभाव की ओर ढ़लता है, तब मुख्य स्वभाव की (निश्चय की) दृष्टि होती है और अवस्था गौण हो जाती है। इस प्रकार निश्चय को मुख्य और व्यवहार को गौण करने से ही वह नय कहलाता है।

जिसे व्यवहार का पक्ष है, वह जीव एकांत व्यवहार की ओर ढ़ल जाता है, इसलिये वह निश्चय स्वभाव का तिरस्कार करता है। मात्र वर्तमान की ओर के झुकाव में इतना अधिक बल नहीं है कि वह विकल्प को तोड़कर स्वभाव का दर्शन कराये। यदि दृष्टि में मात्र निश्चय स्वभाव पर वजन न दे तो व्यवहार को गौण करके स्वभाव की ओर नहीं झुक सकता और सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। यदि वर्तमान में होनेवाले विकार भाव की ओर के बल को क्षीण करके स्वभाव की ओर बल को लगाये तो उस अवस्था में स्वभावरूप कार्य हो सकता है। ज्ञान और वीर्य की दृढ़ता स्वभाव की ओर ढले तो वह निश्चय की मुख्यता हुई और रागादि विकल्प को जानकर भी उस ओर न ढला–उसे मुख्य न किया तो वही व्यवहारनय का निषेध है। वहाँ भी व्यवहार का ज्ञान तो है और उस ज्ञान में व्यवहार गौणरूप में विद्यमान है।

ज्ञान और वीर्य के बल से स्वभाव की ओर जो मुख्यता होती है, उस मुख्यता का बल वीतरागता और केवलज्ञान होने तक बना रहता है; बीच में भले व्यवहार आये किन्तु कभी भी उसकी मुख्यता नहीं होगी। छठे गुणस्थान तक राग रहेगा, तथापि दृष्टि में कभी भी राग की मुख्यता नहीं होगी। त्रैकालिक स्वभाव ही मुख्य है अर्थात् दृष्टि के बल से वह निश्चय स्वभाव की ओर ढ़लते–ढ़लते और रागरूप व्यवहार को तोड़ते–तोड़ते संपूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान हो जायेगा। केवलज्ञान होने के बाद संपूर्ण नय पक्ष का ज्ञाता होने से वहाँ न कोई मुख्य रहता है और न गौण और न कोई विकल्प ही रहता है।

यह बतलाता है कि नव तत्त्वों की श्रद्धा और ग्यारह अंग का ज्ञान होने पर भी जीव का सम्यग्दर्शन कैसे रुक जाता है। त्रैकालिक और वर्तमान इन दोनों को क्षायोपशमिक ज्ञान से जाना तो अवश्य, किन्तु वर्तमान की दृढ़ता वाला त्रैकालिक स्वभाव की ओर झुक नहीं सकता और

त्रैकालिक स्वभाव की ओर उन्मुख होनेवाला प्रथम दोनों का विचार करके स्वभावोन्मुख होता है। जो स्वभाव की दृढ़ता प्राप्त कर लेता है, वह व्यवहार को फीका कर देता है। यद्यपि अभी व्यवहार का सर्वथा अभाव नहीं हुआ किन्तु जैसे-जैसे स्वभाव की ओर ढ़लता जाता है, वैसे-वैसे व्यवहार का अभाव होता जाता है।

वस्तु को मात्र ज्ञान के ख्याल में लेने से ही सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता किन्तु ज्ञान के साथ वीर्य के उस ओर के जोर की आवश्यकता है। यहाँ ज्ञान और वीर्य दोनों के भार को स्वभावोन्मुख करने की बात है। शुभराग से मेरा स्वभाव भिन्न है, इसप्रकार जो ज्ञान है, उस ओर वीर्य को ढ़ालते ही तत्काल सम्यग्दर्शन हो जाता है। यदि स्वभाव की रुचि करे तो वीर्य, स्वभाव की ओर ढ़ले, किन्तु जिसके राग की पुष्टि और रुचिभाव है, उसको व्यवहार की ओर का झुकाव दूर नहीं होता। जहाँ तक मान्यता में और रुचि के वीर्य में निरपेक्ष स्वभाव नहीं रुचता और राग रुचता है, वहाँ तक एकान्त मिथ्यात्व है।

जीव, अशुभभाव को दूर करके शुभभाव तो करता है परन्तु वह शुभभाव में धर्म मानता है, यह स्थूल मिथ्यात्व है। जीव, अशुभ को दूर करके शुभभाव करता है और शास्त्रादि के ज्ञान से यह भी समझता है कि शुभराग से धर्म नहीं होता, तथापि मात्र चैतन्यस्वभाव की ओर का वीर्य न होने से उसके मिथ्यात्व रह जाता है। मात्र जो चैतन्यस्वभाव है, उस तरफ के बल से वर्तमान की ओर से हटना चाहिये, यही दर्शनविशुद्धि है, यहाँ ज्ञान की प्रगटता अथवा कषाय की मन्दता या त्याग पर भार नहीं दिया किन्तु दर्शनविशुद्धि पर ही सम्पूर्ण भार है।

जैसे किसी से सलाह पूछी और उसके कथन को ख्याल में भी रखा, परन्तु उसके अनुसार मानने के लिए तैयार नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उस बात पर ध्यान तो दिया किन्तु तदनुसार आचरण नहीं किया; इसीप्रकार शास्त्र के कथन से यह तो जान लिया कि निश्चय के आश्रय से मुक्ति और व्यवहार के आश्रय से बंध होता है और इसप्रकार उस सलाह को ध्यान में लेकर भी उसे नहीं माना। शास्त्र कथित दोनों पहलुओं को ध्यान में तो लेता है परन्तु मानता वही है, जो उसकी रुचि में होता है, और रुचि तो अपने वीर्य में होती हैं, जिस में भगवान अथवा शास्त्र का ज्ञातृत्व काम नहीं आता।

उसे दिव्यध्वनि का आशय तो ख्याल में आ जाता है 'कि भगवान यों कहना चाहते हैं' किन्तु उस ओर वह रुचि नहीं करता। क्षयोपशमभाव से मात्र धारणा से ख्याल करता है परन्तु वह यथार्थतया रुचि से नहीं समझता। यदि यथार्थतया रुचि से समझे तो सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे।

स्वभाव की बात उस वर्तमान विकल्प के राग से भिन्न होती है। स्वभाव की रुचि के साथ जो जीव, स्वभाव की बात को सुनता है, वह उस समय राग से आंशिक भिन्न होकर सुनता है। यदि स्वभाव की बात सुनते-सुनते उकता जाये अथवा यह विचार आये कि यह तो कठिन मार्ग है, और इसप्रकार स्वभाव की ओर अरुचि मालूम हो तो समझना चाहिए कि उसे स्वभाव की अरुचि और राग की रुचि है, क्योंकि वह यह मानता है कि राग में मेरा वीर्य काम कर सकता है और राग रहित स्वभाव में नहीं कर सकता। यह भी वर्तमान मात्र के लिए व्यवहार का ही उसे पक्ष है। स्वभाव की बात सुनकर उस ओर महिमा ला करके इस प्रकार स्वभाव की ओर वीर्य का उल्लास होना चाहिए कि 'अहो! यह तो मेरा ही स्वरूप बतला रहे हैं।' किन्तु यदि यों माने कि 'यह काम मुझ से नहीं होगा' तो समझना चाहिए कि वह वर्तमान मात्र के लिए राग के चक्कर में पड़ गया है और राग से प्रथक् नहीं हुआ। हे भाई! यदि तूने यह माना कि तुझ से राग का कार्य हो सकता है और राग से अलग होकर राग रहित ज्ञान का कार्य जो कि तेरा स्वभाव ही है, तुझ से नहीं हो सकता तो समझना चाहिए कि त्रैकालिक स्वभाव की अरुचि होने से तुझे सूक्ष्मरूप में राग के प्रति मिठास है—व्यवहार की पकड़ है, और यही कारण है कि सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जहाँ राग रहित ज्ञायकस्वभाव की बात आये, वहाँ यदि जीव को ऐसा लगे कि 'यह काम कैसे होगा'? तो समझना चाहिए कि उसका वीर्य, व्यवहार में अटक गया है, अर्थात् उसे स्वभाव की दृष्टि से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। जो सूक्ष्म ज्ञान स्वभाव है, उसकी मिठास छूटी कि राग की मिठास आ गई। जीव कभी निश्चय स्वभाव की अपूर्व बात को नहीं समझा और उसके किसी न किसी प्रकार से व्यवहार की रुचि रह गई है।

पं. जयचन्द्रजी श्री समयप्राभृत में कहते हैं कि प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही विद्यमान है और इसका उपदेश भी बहुधा सभी प्राणी परस्पर करते हैं और जिनवाणी में शुद्धनय का हस्तावलंबन समझकर व्यवहार का उपदेश बहुत किया है किन्तु इसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष कभी नहीं आया और इसका उपदेश भी विरल है-क्वचित् क्वचित् है। इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि —"शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। इसे जाने बिना जीव जब तक व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा के ज्ञान-श्रद्धारूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता"। *(समयसार, हिन्दी पृष्ठ २५)*

आत्मा के निश्चय स्वभाव की बात करने पर व्यवहार गौण हो जाता है, वहाँ यदि स्वभाव

के कार्य के लिए वीर्य नकार करे और व्यवहार के लिए रुचि करे तो समझना चाहिए कि उसे स्वभाव की रुचि नहीं है; और स्वभाव की ओर की रुचि के बिना वीर्य, स्वभाव में काम नहीं कर सकता, अर्थात् उसकी व्यवहार की दृढ़ता दूर नहीं होती।

यह निश्चयनय, व्यवहार का निषेध करता है, यह बात ज्ञानियों ने बारम्बार कही है। उसमें व्यवहार के स्वरूप का ज्ञान भी उसी के साथ आ जाता है। निश्चयनय जिस व्यवहार का निषेध करता है, वह व्यवहार कौन सा है ? कुदेव आदि की मान्यतारूप जो ज्ञान है, सो मिथ्यात्व पोषक है, उसका तो निषेध है ही, क्योंकि उसमें व्यवहारत्व भी नहीं है। कुदेव आदि की मान्यता को छोड़कर सच्चे देव, गुरु, शास्त्रों में जो कहा है, उसके ज्ञान को व्यवहार कहा गया है और वह ज्ञान भी निश्चय सम्यग्दर्शन का मूल कारण नहीं है; इसलिये निश्चय स्वभाव के बल से उस व्यवहार का निषेध किया गया है। यहाँ पर गृहीत मिथ्यात्व की तो बात ही नहीं है किन्तु यहाँ पर अगृहीत, सूक्ष्म मिथ्यात्वदशा में जो व्यवहार है, उसका निषेध है। जो सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी कुदेव आदि को सत्यार्थरूप में मानता है, वह ज्ञान तो व्यवहार से भी बहुत दूर है। जिन निमित्तों की ओर से वृत्ति को उठाकर स्वभाव में ढ़लना होता है, वे निमित्त क्या हैं, इसका जिसके विवेक नहीं है, उसे स्वभाव का विवेक तो हो ही नहीं सकता। और यह भी नियम नहीं है कि जो सच्चे निमित्तों की ओर झुकता है, उसे स्वभाव का विवेक होता ही है। किन्तु ऐसा नियम है कि जो निश्चय स्वभाव का आश्रय लेता है, उसे सम्यग्दर्शन अवश्य होता है; इसीलिये निश्चयनय से व्यवहारनय का निषेध है।

शास्त्र की ओर का, विकल्प से जो ज्ञान है, सो व्यवहार है। उस ज्ञान की ओर से वीर्य को हटाकर उसे स्वभाव की ओर मोड़ा जाता है। सत् के निमित्त की ओर के भाव से जैसा पुण्य बंध होता है, वैसा पुण्य अन्य निमित्तों के झुकाव से नहीं बँधता अर्थात् लोकोत्तर पुण्य भी सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के विकल्प से होता है। किन्तु वह ज्ञान अभी पर की ओर उन्मुख है; निश्चय स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं है, इसलिये उसका निषेध है। जैसे पागल मनुष्य का ज्ञान निर्णयहीन होता है, इसलिये उसका माता को माता के रूप में जानने का जो ज्ञान है, वह भी अयथार्थ है, इसी प्रकार अज्ञानी का स्वभाव की ओर का निर्णयरहित ज्ञान दोषित हुए बिना नहीं रह सकता।

सर्वज्ञ भगवान के कथन की ओर जो झुकाव है, वह भी व्यवहार की ओर का झुकाव है। वीतरागशासन में कथित् जीवादि नव तत्त्वों की विकल्प से जो सच्ची श्रद्धा है, सो पुण्य का कारण है; क्योंकि उसमें भेद का और पर का लक्ष है। परलक्ष धर्म का कारण नहीं है। जो जीव निमित्त से अवरुद्ध है किन्तु निमित्त की ओर से चलकर अभी स्वभाव की ओर नहीं झुका, उसे निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है।

आचारांग इत्यादि सच्चे शास्त्र जीवाजीवादिक नव तत्त्वों का स्वरूप और एकेन्द्रियादिक छह जीवनिकायों का प्रतिपादन वीतराग जिनशासन के अतिरिक्त अन्य किसी में तो है ही नहीं परन्तु वीतराग जिनशासन में कहे अनुसार शास्त्रों का सच्चा ज्ञान करे, जीवादिक नव तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा करे और छह जीवनिकायों को मानकर उन की दया पालन करे तो वह भी पुण्य का कारण है और उसे व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्र (जो जीव निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करेगा उसके लिए) कहा जाता है; किन्तु परमार्थ दृष्टि उसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र के रूप में स्वीकार नहीं करती क्योंकि जिनशासन के व्यवहार तक आना, सो धर्म नहीं है, किन्तु यदि जो निश्चय आत्मस्वभाव की ओर ढ़लकर उस व्यवहार का निषेध करे तो वह धर्म है। इस प्रकार निश्चयनय, व्यवहार का निषेध करता है।

इस व्याख्यान में यह बताया है कि अज्ञानी को व्यवहार की सूक्ष्म पकड़ कहाँ रह जाती है तथा निश्चयनय का आश्रय कैसे होता है। अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवों को मिथ्यात्व क्यों कर रह जाता है तथा सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट होता है, यह बताया है।

इस विषय से संबंधित कथन मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी आता है वह इस प्रकार है—''सत्य को जानता है, तथापि उसके द्वारा अपना अयथार्थ प्रयोजन ही सिद्ध करता है; इसलिए वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता।''

ज्ञान के क्षयोपशम में निश्चय-व्यवहार दोनों का ध्यान होता है, तथापि अपने बल को निश्चय की ओर ढ़ालना चाहिये; उसकी जगह व्यवहार की ओर ढ़ालता है; इसलिए व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

अज्ञानी व्यवहार-व्यवहार करता है और ज्ञानी निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध ही निषेध करता है।

श्री प्रवचनसारजी में कहा है कि — ''जिसे ऐसा आगमज्ञान हो गया है कि जिस के द्वारा समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत जानता है और यह भी जानता है कि इसका जाननेवाला मैं हूँ परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार अपने को परद्रव्य से भिन्न केवल चैतन्यद्रव्य अनुभव नहीं करता'' अर्थात् स्व-पर को जानता हुआ भी, अपने निश्चय स्वभाव की ओर नहीं झुकता, किन्तु व्यवहार की पकड़ में अटक जाता है। इसलिये वह कार्यकारी नहीं है क्योंकि वह निश्चय का आश्रय नहीं लेता।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.२-५-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड